ॐ

परमात्मने नमः

श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन श्रुत निधि, पुष्प-1

श्रीमद् पूज्यपादस्वामी विरचित

समाधितन्त्र

मूल श्लोक, हिन्दी पद्यानुवाद, एवं
श्री प्रभाचन्द्र द्वारा रचित संस्कृत टीका के
गुजराती अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर

गुजराती अनुवाद :
छोटालाल गुलाबचन्द गाँधी
सोनासण (गुजरात)

हिन्दी अनुवाद :
देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ा (राज०)

प्रकाशक :

- श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
- पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर
- श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़

प्रथम आवृत्ति – 2000 प्रतियाँ
[श्री आदिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, (दिनांक 21 फरवरी से 27 फरवरी 2012) श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर के अवसर पर]

ISBN No.- 978-93-81057-08-7

लागत मूल्य – 55 रुपये
विक्रय मूल्य – 25 रुपये

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,** सोनगढ़ (सौराष्ट्र)–364250, फोन : 02846–244334
2. **श्री कुन्दकुन्द–कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई–400056
   फोन (022) 26130820
   Email - vitragva@vsnl.com
3. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,** ए–4, बापूनगर, जयपुर–302015 (राज.) फोन : (0141) 2707458
4. **श्री आदिनाथ–कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट**
   तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216 (उ.प्र.)
   Email - info@mangalayatan.com
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,** कहान नगर, लाम रोड, देवलाली–422401,
   फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति,** श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **रत्नत्रय तीर्थ ध्रुवधाम,** पोस्ट–कूपड़ा, जिला–बाँसवाडा (राज.)
8. **तीर्थधाम सिद्धायतन,** पोस्ट–द्रोणागिर, जिला–छतरपुर (म.प्र.)
9. **श्री वीतराग–विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट,** पुरानी मण्डी, सेन्ट्रल बैंक के ऊपर, अजमेर (राज.)
10. **आत्मसाधना केन्द्र, आत्मार्थी ट्रस्ट,** रोहतक रोड, घेवरा मोड, दिल्ली

मुद्रक : देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

परमपूज्य **देवनन्दि,** अपरनाम **पूज्यपादस्वामी** द्वारा रचित **'समाधितन्त्र'** नामक ग्रन्थ का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस ग्रन्थ में आचार्यदेव ने शरीरादि परपदार्थों तथा परभावों में एकत्वबुद्धि छोड़कर, संसार से मुक्त होने का दिव्यसन्देश प्रदान किया है। इस शास्त्र पर श्री प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा संस्कृत भाषा में सरल, सुबोध टीका की रचना की गयी है, जिसका हिन्दी अनुवाद करके प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

समाधि की प्राप्ति सर्व काल में दुर्लभ है, उसमें भी इस वर्तमान युग में तो अत्यन्त दुर्लभ है, तथापि समाधि प्राप्त आत्मज्ञ सन्त **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** के भवतापनाशक अमृतमय प्रवचनों से मुमुक्षुओं को ऐसी समाधि, अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति अत्यन्त सुलभ हो रही है, यह हमारा सद्भाग्य है। पूज्य गुरुदेवश्री ने इस ग्रन्थ पर 115 आध्यात्मिक प्रवचन प्रदान करके इसमें निहित आध्यात्मिक रहस्यों से सम्पूर्ण जगत को परिचित कराया है। पूज्य गुरुदेवश्री के ये प्रवचन शब्दश: **'समाधि की स्वतन्त्रता'** नाम से तथा इसी ग्रन्थ पर संकलित प्रवचन **'आत्मभावना'** एवं **'समाधितन्त्र प्रवचन'** नाम से प्रकाशित हुए हैं।

यह भी एक सुखद संयोग ही है कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन, पूज्य गुरुदेवश्री के प्रभावना उदय से स्थापित मुमुक्षु समाज की तीन संस्थाओं — **श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर एवं श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़** द्वारा संयुक्तरूप से किया जा रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री की सदेह अनुपस्थिति के पश्चात् यह अनुभव किया जा रहा था कि मूल ग्रन्थों का प्रकाशन प्राय: नगण्य मात्रा में हो रहा है। इसका कारण यह है कि इन ग्रन्थों के प्रकाशन में जहाँ लाखों रुपयों की धनराशि की आवश्यकता होती है, वहीं शुद्ध प्रमाणिक प्रकाशन भी अनिवार्य है। इस कमी की पूर्ति हेतु तीर्थधाम मङ्गलायतन में आयोजित पुरुषार्थमूर्ति निहालचन्द्र सोगानी की जन्मशताब्दी के अवसर पर तीनों संस्थाओं द्वारा मूल ग्रन्थों के प्रकाशन की जिम्मेदारी संयुक्तरूप से ली गयी है। जिसकी घोषणा उक्त अवसर पर उपस्थित मुमुक्षु समाज के सामने तो की ही गयी थी, साथ ही पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी यह सूचना सम्पूर्ण समाज की जानकारी हेतु प्रकाशित की गयी है। इस योजना के अन्तर्गत आचार्य भगवन्तों एवं ज्ञानी विद्वानों द्वारा रचित मूल आगम ग्रन्थों का प्रकाशन किया जायेगा। किसी भी ग्रन्थ के प्रकाशन सम्बन्धी निर्णय हेतु एक

पाँच सदस्यीय कमेटी का निर्माण किया गया है, जिसमें — डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर; श्री अनन्तराय ए. सेठ, मुम्बई; श्री पवन जैन, अलीगढ़; बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़ एवं पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) सम्मिलित हैं।

इस वर्ष 21 से 27 फरवरी तक श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में आयोजित श्री आदिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन हमारे लिए अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है और यह कार्य अनवरतरूप से चलता रहेगा – ऐसा पूर्ण विश्वास है।

प्रस्तुत ग्रन्थ एवं उसकी संस्कृत टीका का गुजराती अनुवाद श्री छोटालाल गुलाबचन्द गाँधी, सोनासण (गुजरात) द्वारा किया गया है। जो पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा गुजराती भाषा में अनेकों बार प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत गुजराती संस्करण का हिन्दी अनुवाद पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां (राजस्थान) द्वारा किया गया है। जिसका प्रथम संस्करण श्री कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया था। वर्तमान प्रकाशन में उसी को आधार बनाते हुए आवश्यक संशोधन करते हुए यह नवीन संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। तदर्थ हम अपने सहयोगियों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लागत मूल्य को कम करने हेतु पचास प्रतिशत सहयोग श्री कुन्दकुन्द–कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा प्रदान किया गया है। साथ ही अन्य सहयोगियों की सूची इसी ग्रन्थ में प्रकाशित है।

सभी आत्मार्थीबन्धु इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें – इस पवित्र भावना के साथ।

निवेदक

ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

श्री आदिनाथ–कुन्दकुन्द–कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़

प्रस्तावना

ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ परिचय

ग्रन्थकार श्री पूज्यपादस्वामी

प्रस्तुत ग्रन्थ 'समाधितन्त्र' के रचयिता श्री पूज्यपादस्वामी मूलसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के प्रधान आचार्य थे। वे सुप्रसिद्ध बहुप्रतिभाशाली, प्रखर, तार्किक विद्वान और महान तपस्वी थे।

समय - श्रवणबेलगोला शिलालेख नं. ४०(१०८) में उल्लेख है कि वे श्री समन्तभद्राचार्य के बाद हुए हैं और वे आचार्यश्री के मतानुयायी थे।

उन्होंने अपनी 'जैनेन्द्र व्याकरण' में **'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य'** (५-४-१६८) — ऐसा उल्लेख किया है, जो यह बताता है कि समन्तभद्राचार्य उनके पूर्वगामी थे।

विद्वानों के मतानुसार समन्तभद्राचार्य, ईस्वी सन् २०० में हो गये हैं।

श्री भट्टाकलंकदेव ने (समय ईस्वी सन् ६२० से ६८०) अपनी तत्त्वार्थराजवार्तिक में तथा श्री विद्यानन्दि ने (समय ईस्वी सन् ७७५-८००) अपनी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक टीका में श्री पूज्यपाद द्वारा रचित सर्वार्थसिद्धि के वाक्यों का उल्लेख और अनुसरण किया है। इससे अनुमान होता है कि श्री पूज्यपादस्वामी, भट्टाकलंकदेव के पूर्व, अर्थात् सन् ६२० से पूर्व होने चाहिए।

इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वे सन् २०० से ६२० के मध्यकाल में हो गये हैं।

शिलालेख एवं उपलब्ध जैनसाहित्य से विद्वानों ने निश्चय किया है कि यह सुप्रसिद्ध आचार्य, विक्रम की पाँचवीं-छठवीं शताब्दी में हो गये हैं।

निवास स्थान और माता-पितादि - श्री पूज्यपादस्वामी कर्नाटक क्षेत्र के निवासी थे। उनके पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी उल्लिखित है। वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे।

देवसेनाचार्य कृत दर्शनसार में लिखा है कि उनके एक वज्रनन्दी शिष्य ने विक्रम संवत् ५२६ में द्रविड़ संघ की स्थापना की थी।

नाम – उनका दीक्षा नाम देवनन्दी था और बाद में वे पूज्यपाद, जिनेन्द्रबुद्धि आदि अपर नामों से लोक में प्रसिद्ध हुए।

इस सन्दर्भ में श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं. १०५ (२५४) शक संवत् १३२० द्रष्टव्य है।

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥
प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी, बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्राबुद्धि।
श्री पूज्यपाद इति चैव बुधैः प्रचख्ये, यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः॥

उपरोक्त लेखों से ज्ञात होता है कि आचार्यश्री तीन नाम — देवनन्दि, जिनेन्द्रबुद्धि, और पूज्यपाद — से प्रसिद्ध थे। 'देवनन्दि', यह उनका गुरु द्वारा प्रदत्त दीक्षा नाम है; बुद्धि की प्रकर्षता – विपुलता के कारण उन्होंने 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम प्राप्त किया और उनके चरणयुगल की देवताओं ने पूजा की थी, इसलिए बुधजनों ने उन्हें 'पूज्यपाद' नाम से विभूषित किया।

जीवन की अद्भुत घटनाएँ

निम्न शिलालेख उनके जीवन पर स्पष्ट प्रकाश डालते हैं —

श्रीपूज्यपादोद्धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि॥
धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुविभ्रदुच्चकैः।
जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत्स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णित्तः॥

[शि०ले० नं० १०८ (२५८; शक सं. १३५५)]

श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि जींयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीयकार॥

[शि०ले० नं० १०८ (२५८)]

उपरोक्त शिलालेखों में वर्णन किया है कि — श्री पूज्यपादस्वामी ने धर्म-राज्य का

उद्धार किया, देवों के अधिपतियों ने उनका पाद–पूजन किया; इसलिए वह पूज्यपाद कहलाये। उनके द्वारा उद्धार प्राप्त शास्त्र आज भी उनके विद्या विशारद गुणों का कीर्तिमान करते हैं। वे जिनवत् विश्वबुद्धि के धारक थे, अर्थात् समस्त शास्त्र विषयों में पारंगत थे, उन्होंने कामदेव को जीता था; इसलिए कृतकृत्य भावधारी उच्चकोटि के योगियों ने उनका 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम से वर्णन किया है।

तथा इस शिलालेख में ऐसा भी उल्लेख है कि —

(१) वे अद्वितीय औषधऋद्धि के धारक थे।

(२) विदेहक्षेत्र स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से पवित्र हुए थे।

(३) उनके चरणोदक के स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना बन गया था।

तदुपरान्त घोर तपश्चर्यादि से उनकी आँख का तेज नष्ट हो गया था, परन्तु शान्त्यष्टक के एकाग्रतापूर्वक पाठ से पुनः नेत्र तेज प्राप्त हुआ था।

महा योगियों के लिये ऐसी घटनाएँ असम्भवित नहीं हैं।

ग्रन्थ रचना -

श्री पूज्यपादस्वामी ने जिन ग्रन्थों के रचना की है, उनमें जैनेन्द्र व्याकरण, शब्दावतार, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि ग्रन्थ प्रमुख स्थान पर हैं। निम्न शिलालेख से उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का परिचय प्राप्त होता है —

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा,
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिषः पूज्यो मुनीनां गणैः॥४॥

जिनका 'जैनेन्द्र' व्याकरण शब्द शास्त्रों में अपने अनुपम स्थान को; 'सर्वार्थसिद्धि' सिद्धान्त में परम निपुणता को; 'जैनाभिषेक' उच्चतम काव्यता को; 'छन्द शास्त्र' बुद्धि की सूक्ष्मता (रचना चातुर्य) और 'समाधिशतक', स्वात्मस्थिति (स्थित प्रज्ञता) संसार में विद्वानों के प्रति प्रसिद्ध करते हैं, वे पूज्यपाद मुनिन्द्र, मुनिगणों से पूजनीय है।

१. जैनेन्द्र व्याकरण

यह संस्कृत व्याकरण का ग्रन्थ है, इसके सूत्रों के लाघवादी के कारण उसका महत्व

बहुत है और इस कारण उसे लोक में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। भारत के आठ प्रमुख शाब्दिकों में इस व्याकरण के कर्ता श्री पूज्यपादस्वामी की अच्छी गणना है।

सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्।

[शि. ले. नं. ४७, ५०]

जैनेन्द्रे पूज्यपादः।

[शि. ले. नं. ५५]

सर्व व्याकरणयों में श्री पूज्यपादस्वामी, विद्वानों के अधिपति थे, अर्थात् सर्वव्याकरण पण्डितों में शिरोमणि थे।

२. शब्दावतार

यह भी व्याकरण का ग्रन्थ है, वह प्रख्यात वैयाकरण पाणिनी के व्याकरण पर लिखा हुआ शब्दावतार नाम का न्यास है। 'नगर' तालुका के शिलालेख में इसका उल्लेख है।

३. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र टीका)

यह श्री उमास्वामी रचित तत्त्वार्थसूत्र की संस्कृत टीकारूप ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्र की यह सर्व प्रथम टीका है। तत्पश्चात् श्री अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' और श्री विद्यानन्दि ने 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक' नामक टीकाएँ रची हैं। इन टीकाओं में सर्वार्थसिद्धि का अच्छा उपयोग किया गया है और उसका पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया गया है। सिद्धान्त ग्रन्थों में यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रमाणभूत गिना जाता है, और जैन समाज में इसका अच्छा मूल्यांकन किया जाता है।

४-५. समाधितन्त्र और इष्टोपदेश

ये दोनों आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। समाधितन्त्र का अपर नाम समाधिशतक है। उसकी संस्कृत टीका श्री प्रभाचन्द्र ने की है और इष्टोपदेश की संस्कृत टीका पण्डित आशाधर ने की है। दोनों ग्रन्थ जैन समाज में सुप्रसिद्ध हैं।

समाधितन्त्र में आचार्यश्री ने कुन्दकुन्दाचार्य जैसे प्राचीन आचार्यों के आगम वाक्यों का सफलतापूर्वक अनुसरण किया है। तुलनात्मक दृष्टिवन्त को इस ग्रन्थ में मोक्षपाहुड़, समयसारादि ग्रन्थों की प्रतिध्वनि ज्ञात हुए बिना नहीं रहती।

शिलालेखों, उपलब्ध ग्रन्थों और ऐतिहासिक खोज से ज्ञात होता है कि पूज्यपादस्वामी एक सुप्रतिष्ठित जैन आचार्य, अद्वितीय वैयाकरण, महान दार्शनिक, धुरन्धर कवि, महान तपस्वी और युगप्रधान योगीन्द्र थे। उनके द्वारा महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखे ग्रन्थ उनकी अपार विद्वता के प्रतीक हैं।

उनके दिगन्तव्यापी यश और विद्वता से प्रभावित कर्नाटक के ई.स. ८, ९, १० वीं शताब्दी के प्रायः सभी विद्वान, कवियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उनको बहुत भक्तिभावपूर्ण, श्रद्धाञ्जली समर्पित करके मुक्तकण्ठ से बहुत प्रशंसा की है।

समाधितन्त्र/समाधिशतक

श्री पूज्यपाद आचार्य ने इस ग्रन्थ में जीव की तीन अवस्थाएँ - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का अत्यन्त सुन्दर रीति से वर्णन किया है और बहिरात्मपने के परित्यागपूर्वक अन्तरात्मा होकर होनेवाली परमात्मपद की प्राप्ति के उपाय का विवेचन किया है। अन्तरात्मपना स्व-पर के भेदविज्ञान के बिना प्रगट नहीं हो सकता; इसलिए आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ में विशेषरूप से भेदविज्ञान का महत्त्व समझाया है और इसकी प्रत्येक गाथा में भेदज्ञान की ध्वनि गुंजायमान हो रही है। इस तरह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ, भेदज्ञान की भावना और उसके अभ्यास के लिए पर्याप्त प्रमेय उपलब्ध कराता है और अभ्यासी को आगे बढ़ने के लिए श्रेष्ठ प्रेरणा प्रदान करता है। संक्षिप्ततः यह अध्यात्म भावना का एक अत्युत्तम ग्रन्थ है।

भेदविज्ञान से ही परमात्मपद की प्राप्ति हो सकती है, अन्य किसी उपाय से नहीं - इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने आगम, युक्ति स्व-अनुभव द्वारा अपनी रोचक हृदयवाही सरल शैली से सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है।

इस ग्रन्थ के अभ्यास से चित्त अतिप्रमुदित बनता है और अनादि काल से अज्ञानवश होनेवाली भूलों की परम्परा का कदम-कदम पर बोध होता है। भेदविज्ञान द्वारा उन भूलों का अभाव करके परमपद की प्राप्ति किस तरह करना - इसका मार्गदर्शनपूर्वक प्रेरणा आचार्यदेव ने सचोट भाववाही शब्दों में की है। इस ग्रन्थ के भावपूर्वक वाचन-विचार और मनन करने से भवदुःख से संतप्त जीवों को आत्मशान्ति हुए बिना नहीं रहेगी - यह इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ की रचना मोक्षमार्ग के अभिलाषी जीवों को लक्ष्य में रखकर की है। इस बात का परिज्ञान श्लोक-३ से होता है।

अन्तिम श्लोक १०५ में ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए आचार्यदेव ने ग्रन्थ के 'समाधितन्त्र' नाम का निर्देश करते हुए इसकी उपयोगिता दर्शाते हुए कहा है कि इस मोक्षमार्गभूत ग्रन्थ का भलीप्रकार अभ्यास करके तथा इसको अनुभव में उतारकर परमात्मा में निष्ठावान जीव परमपद की-परमसुख की प्राप्ति कर सकता है।

इस ग्रन्थ में आत्मविषय को स्पष्ट करने के लिए एकार्थवाचक भिन्न-भिन्न शब्दों का सुन्दर शैली में जो प्रयोग किया गया है, उसको देखकर साहित्यिक दृष्टि से भी ग्रन्थ की महिमा प्रतिभासित होती है। रचना चातुर्य और शब्दप्रयोग का कौशल्यादि ग्रन्थकार को संस्कृत भाषा का अगाधज्ञान प्रगट करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ, भाषा सौष्ठव, पद्यरचना और साहित्यगुणों की दृष्टि से जैन साहित्य में एक विशिष्ट-अनोखा स्थान प्राप्त करता है।

इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार श्री प्रभाचन्द ने अपनी टीका प्रशस्ति में ग्रन्थ के अपरनाम 'समाधिशतक' का उल्लेख किया है; इसलिए जैनसमाज में यह ग्रन्थ **समाधितन्त्र** और **समाधिशतक** - इन दोनों नामों से प्रसिद्ध है।

संस्कृत टीकाकार - श्री प्रभाचन्द

प्रस्तुत ग्रन्थ की संस्कृत टीका के अन्त में समागत प्रशस्ति में ज्ञात होता है कि श्री प्रभाचन्द्र (प्रभेन्दु) इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार हैं। कितने ही विद्वानों के मतानुसार वे श्री समन्तभद्राचार्य विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार के संस्कृत टीकाकार भी हैं। उन्होंने समाधितन्त्र के प्रत्येक श्लोक में गर्भित भाव को संस्कृत भाषा में अच्छी तरह से अभिव्यक्त किया है।

उनका समय, स्थान, गुरु, माता-पितादि के सम्बन्ध में समुचित खोज की आवश्यकता है।

इस ग्रन्थ में उनकी टीका का शब्दश: अनुवाद किया गया है।

आभार-प्रदर्शन

यह अनुवाद इसके योग्य काल में स्वयं प्रगट हो रहा है। इसमें परम अध्यात्ममूर्ति पूज्य

गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का धारावाहिक आध्यात्मिक प्रसाद निमित्त है — ऐसा विनयभाव से स्वीकार करते हुए उनके प्रति साभार भक्तिभाव से वन्दन करता हूँ।

संस्कृत टीका की भाषा तो सरल है, तथापि कहीं टीकाकार का भाव स्पष्ट समझ में न आने से विद्वान पण्डितवर्य श्री हिम्मतभाई जे. शाह की मदद से उसको यथायोग्य स्पष्ट करने का प्रयास किया है, तदर्थ उनका अत्यन्त ऋणी हूँ।

धर्मवत्सल मान्यवर श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी तथा सद्धर्मप्रेमी श्रीयुत खीमचन्दभाई जे. सेठ — इन दोनों ने अपना अमूल्य समय देकर इस अनुवाद को बराबर जाँच कर उचित मार्गदर्शन दिया; अत: उक्त दोनों का मैं आभारी हूँ। उनकी सहायता व सहानुभूति के बिना यह अनुवाद कार्य प्रकाश में आना मुश्किल था। इसी प्रकार ब्रह्मचारी गुलाबचन्दभाई का भी सहयोग रहा है, तदर्थ आभारी हूँ।

(गुजराती अनुवादक)

छोटालाल, गुलाबचन्द गांधी

सोनासण (गुज.)

सम्पादकीय

परम पूज्य दिगम्बराचार्य श्री पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित समाधितन्त्र ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद समस्त सद्धर्मप्रेमी आत्मार्थीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। यह समाधितन्त्र ग्रन्थ 105 गाथाओं का संक्षिप्त ग्रन्थ होते हुए भी आत्महित का मार्ग दर्शाने में परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने समयसार, नियमसार, मोक्षपाहुड़, ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थों का उपयोग किया है, जो अपने आप में अद्भुत है।

इस ग्रन्थ में आचार्यदेव ने जीव के बहिरात्मा-अन्तरात्मा परमात्मा आदि भेदों का वर्णन करते हुए, स्व-पर की एकत्वबुद्धिरूप बहिरात्मदशा का परित्याग करके भेदविज्ञानपूर्वक आत्म-अनुभवरूप अन्तरात्मदशा प्रगट करके पूर्ण शुद्धतारूप परमात्मदशा प्राप्त करने का उपाय बताया है। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि जो जीव, व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है और जो निश्चय में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में जागता है। इसी प्रकार का भाव आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने मोक्षपाहुड़ गाथा 31 में भी व्यक्त किया है। जिस प्रकार समयसार में देहाश्रित मुनि अथवा श्रावक लिंग को मोक्षमार्ग माननेवाले को अनादिरूढ़, व्यवहार में मूढ़, प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय पर अनारूढ़ कहा गया है, उसी प्रकार का भाव इस ग्रन्थ के श्लोक 87-88 में व्यक्त किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्ददेव के पंच परमागमों के साथ ही अन्य अनेक ग्रन्थों की विषयवस्तु भी समायोजित हो जाती है, जो इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्यश्री पूज्यपाद के विशद ज्ञानाभ्यास को प्रतिबिम्बित करता है। आचार्य पूज्यपाद तथा टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में प्रस्तावना में विशेष प्रकाश डाला गया है; अतः इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है।

यह ग्रन्थ गुजराती टीका के शब्दशः अनुवाद के साथ श्री दिगम्बर स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ है। जिसका हिन्दी रूपान्तरण करके जुलाई 2003 में श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, मुम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया था। वर्तमान संस्करण उसी संस्करण का आवश्यक संशोधन करके प्रकाशित किया जा रहा है।

❖ इस प्रकाशन में प्राचीन हिन्दी पद्यानुवाद को स्थान दिया गया है।

❖ भावार्थ और विशेष स्पष्टीकरण का फॉन्ट बदल कर दिया गया है।

❖ ग्रन्थ में आधारभूत गाथाओं का पाद-टिप्पण में अर्थसहित दिया गया है।

❖ विगत संस्करण की अशुद्धियों को पुन: गुजराती से मिलान करके दूर कर दिया गया है।

❖ विगत संस्करण में समाधितन्त्र और इष्टोपदेश का संयुक्त जिल्द में प्रकाशन किया गया था, जिसे इस बार पृथक्-पृथक्रूप से प्रकाशित किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ पर परम उपकारी जीवनशिल्पी आध्यात्मिक सन्त गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा 115 प्रवचन प्रदान करके इसके रहस्यों का विशद् स्पष्टीकरण किया गया है। जिनका शब्दश: प्रकाशन गुजराती भाषा में **समाधि की स्वतन्त्रता** के नाम से तथा संकलित प्रवचनों का प्रकाशन **आत्मभावना** तथा **समाधितन्त्र प्रवचन** के नाम से उपलब्ध है। निश्चित ही यदि गुरुदेवश्री अपने प्रवचनों द्वारा इस ग्रन्थ के रहस्यों का उद्घाटन नहीं करते तो इसमें समागत सूक्ष्म रहस्यों को समझ पाना सरल नहीं था।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु; इस ग्रन्थ के रचनाकार श्रीमद् पूज्यपादस्वामी तथा इसके रहस्योद्घाटक पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में सविनय वन्दन समर्पित करता हूँ। पूज्य गुरुदेवश्री सहित समस्त ज्ञानी-धर्मात्माओं के प्रति बहुमान / भक्ति उत्पन्न कराने में निमित्त आदरणीय पण्डित कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़ के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में सक्रिय सहयोग देनेवाले आदरणीय अग्रज श्री पवन जैन, अलीगढ़ के प्रति तथा प्रकाशक श्री कुन्दकुन्द-कहान-पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर एवं श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

सभी आत्मार्थी बन्धु इस ग्रन्थ का आत्मलक्ष्य से स्वाध्याय करके निज हित साधें इसी पवित्र भावना के साथ...........

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, जिला भीलवाड़ा

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजम्बा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो

उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970 – 07 दिसम्बर 1913) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद तुरन्त ही महात्मा कानजीस्वामी ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य क्षण में श्रीमद्‌भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, गुरुदेवश्री के हस्तकमल में आया, जिसका अध्ययन और चिन्तन करते हुए अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रस्फुटित हुआ। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको

असह्य हो गयी। सत्यधर्म का स्वरूप प्रकाशित करने में हिचकना पड़ता था; अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

यहाँ ग्रन्थाधिराज समयसार पर प्रवचन प्रारम्भ करने के पश्चात् दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1961 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व

में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। **सुवर्ण-सन्देश** नामक साप्ताहिक पत्रिका अक्टूबर 1960 से अप्रैल 1962 तक प्रकाशित हुई। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। मूल दिगम्बर जैनों को भी आपने सच्चा दिगम्बर बनाया।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। ईस्वीं सन् 1980 तक पूज्य कृपालु कहान गुरुदेव की उपस्थिति तक बाईस लाख पुस्तकें प्रकाशित हुईं। श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर की ओर से भी इस समय तक आठ लाख पुस्तकें प्रकाशित हुईं। सत्साहित्य द्वारा इस वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो अनवरतरूप से अभी भी चल रही है।

वर्तमान में सत्साहित्य का प्रकाशन सोनगढ़ के उपरान्त भावनगर, राजकोट, मुम्बई, देवलाली, जयपुर, अलीगढ़, सोनागिर, इत्यादि अनेक स्थानों से हो रहा है। अब तो पूज्य गुरुदेवश्री की रिकार्डिंग वाणी के अक्षरश: प्रकाशन भी प्रारम्भ हुए हैं। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने हम सब पर अमाप करुणा बरसायी है, तत्त्व जिज्ञासु जीवों के लिए यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, जो अनवरतरूप से चल रहा है। ईस्वीं सन् 1967 से श्री वीतराग-विज्ञान परीक्षा बोर्ड जयपुर द्वारा प्रतिवर्ष सम्पूर्ण भारत में वीतराग-विज्ञान पाठशाला के सैकड़ों केन्द्रों पर धार्मिक परीक्षा का आयोजन किया जाता है। जिसमें बालकों के साथ-साथ छोटे-बड़े जिज्ञासु भाई-बहिन

हजारों की संख्या में मूल तत्त्वज्ञान सिखते हैं। बालकों के तत्त्वज्ञान का बीजारोपण करने हेतु प्रशिक्षित अध्यापक तैयार करने के लिये, शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर इस शृंखला की अविस्मरणीय कड़ी है, जो पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर का विनम्र प्रयास है।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज (28 फरवरी 1941) के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई और आज भी यह प्रवृत्ति अनवरतरूप से चल रही है।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत्

2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था। दिनांक 29 नवम्बर 1980 शुक्रवार (कार्तिक कृष्ण 7, संवत् 2037) के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके यहाँ से अध्यात्म युग सृजक बनाकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको

तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

प्रस्तुत संस्करण के प्रकाशन में प्राप्त सहयोग राशि
10,000/- पण्डित कैलाशचन्द जैन परिवार, अलीगढ़

विषयानुक्रमणिका

श्लोक	विषय	पृष्ठ
१.	मङ्गलाचरण (सिद्ध को नमस्कार)	१
२.	मङ्गलाचरण (अरहन्त को नमस्कार)	२
३.	ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा	११
४.	आत्मा के तीन भेद	१४
५.	बहिरात्मादि के लक्षण	१८
६.	परमात्मावाचक नाम	२१
७.	बहिरात्मा की शरीरादि में आत्मबुद्धि	२३
८-९.	चतुर्गति सम्बन्धी शरीरभेद से जीव भेद की मान्यता	२५-२६
१०.	बहिरात्मा की अन्य शरीरों में मान्यता	२९
११.	शरीर में आत्मबुद्धि का परिणाम	३०
१२.	अविद्या के संस्कार का परिणाम	३२
१३.	बहिरात्मा और अन्तरात्मा में कर्तव्य भेद	३४
१४.	शरीर में आत्मबुद्धि के लिए खेद	३६
१५.	संसार दु:ख का मूल	३८
१६.	अन्तरात्मा का पूर्व अवस्था सम्बन्धी खेद	४०
१७.	आत्मज्ञान का उपाय	४१
१८.	अन्तर-बाह्य वचन-प्रवृत्ति के त्याग का उपाय	४३
१९.	अन्तर्विकल्पों के त्याग का उपाय	४५
२०.	आत्मा का निर्विकल्प स्वरूप	४७
२१-२२.	अन्तरात्मा की आत्मज्ञान पूर्व व पश्चात् चेष्टा	४९-५१
२३.	लिङ्ग-संख्यादि में भ्रम निवारण	५३
२४.	आत्मस्वरूप का अनुभव	५४
२५-२६.	आत्मज्ञानी का शत्रु-मित्र विचार	५७-५७
२७.	परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय	५९
२८.	परमात्मपद की भावना का फल	५९
२९.	भय और अभय का स्थान	६१

श्लोक	विषय	पृष्ठ
३०-३२.	परमात्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय	६३-६५-६६
३३.	आत्मज्ञान बिना तपश्चरण व्यर्थ	६८
३४.	आत्मज्ञानी को तपश्चरण का खेद नहीं होता	६९
३५.	राग-द्वेष रहित मन वाला ही आत्मदर्शी है	७१
३६.	आत्मतत्त्व और आत्मभ्रान्ति	७२
३७.	विक्षिप्त-अविक्षिप्त मन का कारण	७४
३८.	विक्षिप्त-अविक्षिप्त मन का फल	७७
३९.	राग-द्वेष के अभाव का उपाय	७८
४०.	शरीरादि का प्रेम कैसे दूर हो?	८०
४१.	दु:ख दूर करने का उपाय	८२
४२.	तप से चाह..................	८४
४३.	कर्म बन्धन कौन करता है?	८६
४४.	बहिर्अन्तरात्मा के विचार	८८
४५.	अन्तरात्मा को देहादिक में भ्रान्ति क्यों?	८९
४६.	अन्तरात्मा भ्रान्ति को कैसे छोड़े?	९१
४७.	बहिर्अन्तरात्मा के त्याग-ग्रहण विषय	९२
४८.	अन्तरात्मा का अन्तरङ्ग त्याग-ग्रहण	९४
४९.	बहिर्अन्तरात्मा को भासित जगत	९६
५०.	अन्तरात्मा की भोजनादिक में प्रवृत्ति	९८
५१.	अनासक्त अन्तरात्मा आत्मज्ञान को ही.......	१००
५२.	आत्मानुभवी को सुख-दु:ख कैसे?	१०१
५३.	आत्मस्वरूप की भावना कैसे करना?	१०३
५४.	शरीरादि में भ्रान्त-अभ्रान्त मनुष्यों का व्यवहार	१०५
५५.	बहिरात्मा की बाह्य विषय में आसक्ति	१०७
५६.	बहिरात्मा की दशा	१०९
५७.	स्व-पर शरीर को कैसे अवलोकना?	१११

श्लोक	विषय	पृष्ठ
५८.	अन्तरात्मा बहिरात्मा को आत्मतत्त्व क्यों नहीं बताते?	११३
५९.	बहिरात्मा को आत्मतत्त्व में रुचि नहीं	११५
६०.	बहिरात्मा को आत्मबोध क्यों नहीं?	११७
६१.	अन्तरात्मा की शरीरादि श्रृंगार में उदासीनता	११८
६२.	संसार काहे से टिकता है?	१२०
६३–६४.	अन्तरात्मा शरीर की अवस्था को	१२२–१२३
६५–६६.	आत्मा की अवस्था नहीं मानता	१२४–१२६
६७.	अन्तरात्मा के मुक्ति की योग्यता	१२७
६८.	बहिरात्मा के संसार भ्रमण का कारण	१२९
६९.	बहिरात्मा किसे आत्मा मानता है	१३१
७०.	आत्म भावना का उपदेश	१३३
७१.	आत्मा की एकाग्र भावना का फल	१३४
७२.	चित्त स्थिरता के लिए लोक संसर्ग का त्याग	१३५
७३.	क्यों मनुष्यों का संसर्ग छोड़कर वन में बसना?	१३६
७४.	आत्मभावना और उसका फल	१३८
७५.	आत्मा का गुरु आत्मा ही	१३९
७६.	बहिरात्मा मरण से क्यों डरता है?	१४१
७७.	अन्तरात्मा की मरण समय निर्भयता	१४२
७८.	व्यवहार में सोनेवाला ही आत्मकार्य में जागृत	१४४
७९.	आत्मविषय में जागृत ही मुक्ति पात्र	१४६
८०.	अन्तरात्मा की योगावस्था में जगत कैसा लगता है?	१४८
८१.	आत्मा को शरीर से भिन्न माने बिना मुक्ति नहीं	१५०
८२.	भेदविज्ञान की भावना कैसे करना?	१५१
८३.	अव्रतों की तरह व्रतों का विकल्प भी त्याज्य	१५३
८४.	व्रतों का विकल्प छोड़ने का क्रम	१५४
८५.	विकल्पजाल के नाश से परमपद की प्राप्ति	१५६

श्लोक	विषय	पृष्ठ
८६.	उत्प्रेक्षा जाल के नाश का क्रम	१५८
८७.	लिङ्ग–विकल्प मोक्ष का कारण नहीं	१६१
८८.	जाति का आग्रह भी मुक्ति का कारण नहीं	१६३
८९.	जाति सम्बन्धी आगम–हठवाले मुक्ति नहीं पाते	१६४
९०.	मोही जीवों को शरीर में अनुराग	१६६
९१.	मोही जीवों को विपर्यास	१६७
९२.	संयोगी–अवस्था में अन्तरात्मा क्या करता है?	१६८
९३.	बहिर्अन्तरात्मा की भ्रम–अभ्रमरूप दशा	१७०
९४.	बहिरात्मा का सकल शास्त्रज्ञान निष्फल	१७२
९५.	ज्ञातात्मा का सुप्तादि अवस्था में भी स्वरूप संवेदन	१७४
९६.	चित्त कहाँ अनासक्त होता है?	१७५
९७.	भिन्नात्मा की उपासना का फल	१७७
९८.	अभिन्नात्मा की उपासना का फल	१७८
९९.	उक्त कथन का उपसंहार	१८०
१००.	चार्वाक–सांख्यमत का निराकरण	१८२
१०१.	शरीर का नाश होने पर भी आत्मा अविनाशी	१८५
१०२.	मुक्ति के लिए भेदविज्ञान के साथ तपादि का अभ्यास	१८७
१०३.	आत्मा व शरीर की गति–स्थिति	१८८
१०४.	शरीर यन्त्रों का आत्मा में आरोपण	१९१
१०५.	ग्रन्थ का उपसंहार	१९२
	टीका प्रशस्ति	१९५

ॐ

॥ शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति ॥

''व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को और उनके भावों को एवं कारण-कार्यादि को, किसी को किसी में मिला कर निरूपण करता है, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; अत: उसका त्याग करना चाहिए और निश्चयनय, उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता, इसलिए ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; अत: उसका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो जिनमार्ग दोनों नयों को ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर – जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ इसी प्रकार है' – ऐसा जानना चाहिए तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यतासहित कथन है, उसे 'ऐसा है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' – ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जान कर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' – इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तने से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न – यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्ग में उसका उपदेश क्यों दिया है ? एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था।

उत्तर – ऐसा ही तर्क समयसार में भी किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है –

जह ण वि सक्कमणज्जो, अण्ज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा, परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ ८ ॥

अर्थात् जिस प्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा के बिना, अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है, इसलिए व्यवहार का उपदेश दिया गया है।

इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि इस प्रकार निश्चय को अङ्गीकार कराने के लिए व्यवहार के द्वारा उपदेश देते हैं; किन्तु व्यवहारनय है, वह अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।'' *(- **पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी :** मोक्षमार्ग प्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २५१)*

ॐ

卐 श्री सर्वज्ञ-वीतरागाय नमः 卐

॥ शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मङ्गलाचरण ॥

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नमः॥ १॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालित-सकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती ! हरतु नो दुरितान्॥ २॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥ ३॥

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यश्रीगुरवे नमः

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री'समाधितन्त्र' नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारमासाद्य श्रीमद्‌भगवद्-पूज्यपादाचार्यदेवविरचितम्।

श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमौ गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥ १॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्॥ २॥

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् पूज्यपादस्वामी रचित

समाधितन्त्र

(श्रीमद् प्रभाचन्द्र विरचित संस्कृत टीका सहित)

(मङ्गलाचरण)

सिद्धं जिनेन्द्रममलाऽप्रतिमप्रबोधम्
निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम्।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये
समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम्॥ १॥

श्री पूज्यपादस्वामी रचित मूल श्लोक और श्री प्रभाचन्द्र द्वारा रचित
संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद एवं विशेषार्थ

(टीकाकार का मङ्गलाचरण)

सकल विभाव अभावकर, किया आत्मकल्यान।
परमानन्द-सुबोधमय, नमूँ सिद्ध भगवान॥ १॥

आत्मसिद्धि के मार्ग का, जिसमें सुभग विधान।
उस समाधियुत तन्त्र का, करूँ सुगम व्याख्यान॥ २॥

अर्थ :- सिद्ध, अनुपम ज्ञानवान (अनन्त ज्ञानी), निर्वाणमार्गरूप निर्मल (वीतराग) देवेन्द्रों से वन्दनीय तथा संसार सागर को पार करने के लिये उत्कृष्ट नावरूप - ऐसे वीर जिनेन्द्र भगवान को प्रणिपात करके मैं (श्री प्रभाचन्द्र) समाधिशतक कहूँगा।

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षुणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फल-मभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह -

येनात्माऽबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्त बोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः॥ १॥

अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपाय उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूप-मुपदर्शितम्। सिद्धात्मने-सिद्धपरमेष्ठिने सिद्धः सकलकर्म-विप्रमुक्तः स चासावात्मा च तस्मै नमः। येन किं कृतं?

अबुद्ध्यत ज्ञातः। कोऽसौ? आत्मा कथं? आत्मैव। अयमर्थः येन सिद्धात्मनः-ऽत्रात्मैवाध्यात्मत्वेनाबुद्ध्यत न शरीरादिकं कर्मापादितसुरनरनारकतिर्यगादिजीवपर्याया-

---

श्री पूज्यपादस्वामी (इस समाधितन्त्र के रचयिता) मुमुक्षुओं के लिये मोक्ष का उपाय और मोक्ष का स्वरूप बतलाने की कामना से तथा निर्विघ्न शास्त्र की परिसमाप्ति आदिरूप फल की अभिलाषा से, इष्टदेवता विशेष को नमस्कार करके कहते हैं:—

नमूँ सिद्ध परमात्म को, अक्षय बोध स्वरूप।
जिन ने आत्मा आत्ममय, पर जाना पररूप॥ १॥

अन्वयार्थ :-(**येन**) जिसके द्वारा (**आत्मा**) आत्मा, (**आत्मा एव**) आत्मारूप से ही (**अबुद्ध्यत**) जाना गया है (**च**) और (**अपरं**) अन्य को-कर्मजनित मनुष्यादिपर्यायरूप पुद्गल को (**परत्वेन एव**) पररूप से ही (**अबुद्ध्यत**) जाना गया है, (**तस्मै**) उस (**अक्षयानन्तबोधाय**) अविनाशी अनन्तज्ञानस्वरूप (**सिद्धात्मने**) सिद्धात्मा को (**नमः**) नमस्कार हो।

टीका :- यहाँ पूर्वार्ध से मोक्ष का उपाय और उत्तरार्ध से मोक्ष का स्वरूप दर्शाया गया है।

सिद्धात्मा को, अर्थात् सिद्धपरमेष्ठी को-सिद्ध, अर्थात् सर्व कर्मों से सम्पूर्णपने (अत्यन्त) मुक्त — ऐसे आत्मा को नमस्कार हो।

जिन्होंने क्या किया? जाना। किसको? आत्मा को। किस प्रकार (जाना)? आत्मारूप से ही। तात्पर्य यह है कि जिन सिद्धात्माओं ने यहाँ आत्मा को, आत्मारूप ही, अर्थात् अध्यात्मरूप से ही जाना, उसे शारीरिक या कर्मोपादित सुर-नर-नारक-तिर्यंचादि जीव

दिकं वा। तथा परत्वेनैव चापरं अपरं च शरीरादिकं कर्मजनितमनुष्यादिजीव-पर्यायादिकं वा परत्वेनैवात्मनोभेदनैवाबुद्धयत्। तस्मै कथंभूताय? अक्षयानन्तबोधाय अक्षयोऽविनश्वरोऽनन्तो देशकालानवच्छिन्नसमस्तार्थपरिच्छेदको वा बोधो यस्य तस्मै। एवंविधबोधस्य चानन्तदर्शनसुखवीर्यैरविनाभावित्वसामर्थ्यादनंतचतुष्टयरूपायेति गम्यते। ननु चेष्टदेवताविशेषस्य पञ्च-परमेष्ठिरूपत्वात्तदत्र सिद्धात्मन एव कस्माद् ग्रन्थकृता नमस्कारः कृत इति चेत् ग्रन्थस्य कर्तुर्व्याख्यातुः श्रोतुरनुष्ठातुश्च सिद्धस्वरूप -प्राप्त्यर्थत्वात्। यो हि यत्प्राप्त्यर्थी स तं नमस्करोति यथा धनुर्वेदप्राप्त्यर्थी धनुर्वेदविदं नमस्करोति। सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थी च समाधिशतकशास्त्रस्य कर्ता व्याख्याता श्रोता तदर्थानुष्ठाता चात्मविशेषस्तस्मात्सिद्धात्मानं नमस्करोतीति। सिद्धशब्देनैव चार्हदादीनामपि ग्रहणम्। तेषामपि देशतः सिद्धस्वरूपो-पेतत्वात्॥१॥

पर्यायादिरूप नहीं जाना तथा (जिन्होंने) अन्य को, अर्थात् शरीरादिक व कर्मजनित मनुष्यादिक जीव पर्यायों को परोक्षरूप से, अर्थात् आत्मा से भिन्नरूप ही जाना।

कैसे उन्हें (नमस्कार)? अक्षय-अनन्त बोधवाले — अक्षय, अर्थात् अविनश्वर और अनन्तर, अर्थात् देशकाल से अनविछिन्न — ऐसे समस्त पदार्थों के परिच्छेदक, अर्थात् ज्ञानवाले; उनको (नमस्कार) — इस प्रकार के ज्ञान, अनन्त दर्शन, सुख, वीर्य के साथ अविनाभावीपने की सामर्थ्य के कारण, वे अनन्त चतुष्टयरूप हैं — ऐसा बोध होता है। **शंका :**- इष्टदेवता विशेष, पञ्च परमेष्ठी होने पर भी, यहाँ ग्रन्थकर्ता ने सिद्धात्मा को ही क्यों नमस्कार किया?

समाधान :- ग्रन्थकर्ता, व्याख्याता, श्रोता और अनुष्ठाताओं को सिद्धस्वरूप की प्राप्ति का प्रयोजन होने से, (उनने वैसा किया है।) जो जिसकी प्राप्ति का अर्थी होता है, वह उसे नमस्कार करता है; जैसे, धनुर्विद्या प्राप्ति का अर्थी, धनुर्वेदी को नमस्कार करता है, वैसे ही। इस कारण सिद्धस्वरूप की प्राप्ति के अर्थी, समाधिशतक शास्त्र के कर्ता, व्याख्याता, श्रोता और उसके अर्थ के अनुष्ठाता आत्मा विशेष — (ये सभी) सिद्धात्मा को नमस्कार करते हैं॥१॥

***भावार्थ :**- ग्रन्थकार ने श्लोक के पूर्वार्ध में स्व-पर का भेदविज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का उपाय है — ऐसा सूचित किया है और उत्तरार्ध में फलस्वरूप ज्ञान और आनन्दरूप ऐसी सिद्धदशा ही मोक्षस्वरूप है — ऐसा दर्शाया है, अर्थात् इस श्लोक में मोक्ष का उपाय और मोक्ष का स्वरूप बतलाया है।*

जिनने आत्मा को आत्मारूप से ही यथार्थ जाना है; शरीरादि और सुर-नर नारकादि पर्यायपने नहीं जाना है और पर को परपने जाना है, अर्थात् शरीरादि और नर-नारकादि पर्याय को आत्मा से भिन्न जाना है — ऐसे अविनाशी अनन्त ज्ञानस्वरूप सिद्धात्मा को यहाँ नमस्कार किया है।

विशेष स्पष्टीकरण *-*

आत्मा, आत्मारूप से है और शरीरादि परपदार्थोंरूप नहीं तथा शरीरादि परपदार्थ, पररूप से हैं और आत्मारूप से नहीं — ऐसे निर्णयपूर्वक स्व-पर का भेदविज्ञान, सिद्धपद की प्राप्ति का-मोक्षप्राप्ति का उपाय है।

श्री समयसार, गाथा २ की टीका में भी लिखा है — 'सर्वपदार्थों के स्वभाव को प्रकाशने में समर्थ - ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञान ज्योति उदय पाती है।'

इस प्रकार भेदविज्ञान ज्योति ही केवलज्ञान प्रगट करने का साधन / उपाय है।

स्व-पर का—जीव-अजीव का भेदविज्ञान *- प्रथम तो दुःख दूर करने के लिये स्व-पर का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यदि स्व-पर का ज्ञान न हो तो अपने को पहिचाने बिना, अपना दुःख कैसे दूर करे?*

अथवा स्व-पर को एक जानकर, अपना दुःख दूर करने के लिये पर का उपचार करे तो उससे अपना दुःख कैसे दूर हो? अथवा अपने से भिन्न ऐसे पर में, यह जीव अहंकार-ममकार करे तो उससे दुःख ही होता है; अतः स्व-पर का ज्ञान होने पर दुःख दूर होता है।

अब, स्व-पर का ज्ञान, जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है, क्योंकि स्वयं जीव है तथा शरीरादिक अजीव हैं। यदि लक्षणादिक द्वारा जीव-अजीव की पहिचान हो तो ही स्व-पर का भिन्नपना भासित हो; अतः जीव-अजीव को जानना चाहिए।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-७८)

भेदविज्ञान की आवश्यकता *- सर्व दुःखों का मूलकारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है। इन सर्व दुःखों का अभाव करने के लिये इसे (जीव को) दो प्रकार का भेदविज्ञान कराया जाता है।*

पहले प्रकार का भेदविज्ञान *- जीव, अपने गुणों और पर्यायों से एक है, अभिन्न है तथा परद्रव्यों, उनके गुणों और पर्यायों से अत्यन्त भिन्न है, अर्थात् जीव स्वद्रव्य से, स्वक्षेत्र से,*

स्वकाल से और स्वभाव से, परद्रव्य के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अत्यन्त भिन्न है; अत: इस अपेक्षा से परद्रव्य, उनके गुण तथा उनकी पर्यायों के साथ का सम्बन्ध, मात्र व्यवहारनय से संयोगरूप अथवा निमित्तरूप है — ऐसा ज्ञान कराया जाता है।

इस दृष्टि से परद्रव्यों के साथ का सम्बन्ध, असद्भूत-असत्य होने से, उस सम्बन्धी ज्ञान करानेवाले नय को व्यवहारनय कहा जाता है और जीव के द्रव्य, गुण, पर्याय अपने होने से सद्भूत-सत्य होने से उस सम्बन्धी का ज्ञान करानेवाले नय को निश्चयनय कहा जाता है।

***दूसरे प्रकार का भेदविज्ञान** - किन्तु पहले प्रकार के भेदज्ञान से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं हो जाता। अनादि से जीव की पर्याय, अशुद्ध है। उसे अपने में होती होने की अपेक्षा से 'निश्चयनय' का विषय कहते हैं, तथापि वह पर के आश्रय से होती होने की अपेक्षा से, उसे व्यवहारनय का विषय भी कहा जाता है तथा शुद्धपर्यायें भी जीव का त्रिकालीस्वरूप नहीं हैं और उनके आश्रय से व गुणभेद के आश्रय से विकल्प उत्पन्न होते हैं; इसलिए उनका आश्रय छुड़ाने की अपेक्षा से उन्हें भी व्यवहार कहा जाता है और जीवद्रव्य का त्रैकालिक शुद्धस्वरूप जो कि ध्रुव है, उसे निश्चय कहा जाता है क्योंकि उसके आश्रय से ही धर्म प्रारम्भ, उसका टिकना, उसकी वृद्धि और पूर्णता होती है।**

***सिद्धात्मा को नमस्कार किसलिये ?** — 'सिद्ध भगवन्त, सिद्धपने के कारण, साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द (प्रतिबिम्ब) के स्थान पर हैं, जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिन्तवन करके, उन समान अपने स्वरूप को ध्याकर, उनके जैसे हो जाते हैं...... ।'*

(श्री समयसार, गाथा १ की टीका)

'संसारी को शुद्ध आत्मा, साध्य है और सिद्ध, साक्षात् शुद्धात्मा हैं; इस कारण उन्हें नमस्कार करना उचित है।'

आचार्यकल्प पण्डितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के पहले अध्याय में सिद्धभगवान का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि —

'.....जिनके ध्यान द्वारा भव्य जीवों को स्वद्रव्य-परद्रव्य का, औपाधिकभाव तथा

---

* (आधार :- श्री समयसार श्रीमद् राजचन्द ग्रन्थमाला, श्री जयसेनाचार्य कृत टीका, गाथा ५७, गाथा १०२, गाथा १११ से ११२ गाथा १३७, १३८; गुजराती द्रव्यसंग्रह पृष्ठ ८-९)

अथोक्तप्रकारसिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य चोपदेष्टारं सकलात्मानमिष्टदेवताविशेषं स्तोतुमाह -

---

स्वाभाविकभावों का विज्ञान होता है; जिसके द्वारा स्वयं को सिद्धसमान होने का साधन होता है; अतः साधनेयोग्य जो अपना शुद्धस्वरूप, उसको दर्शाने के लिये, जो प्रतिबिम्ब के समान है तथा जो कृतकृत्य हुए हैं, इस कारण इसी प्रकार अनन्त कालपर्यंत रहते हैं — ऐसी निष्पन्नता को प्राप्त श्रीसिद्धभगवान को हमारा नमस्कार हो----।'

प्रश्न :- *पञ्च परमेष्ठी में पहले अरहन्तदेव हैं, तो उनके बदले यहाँ सिद्धभगवान को प्रथम नमस्कार क्यों किया ?*

उत्तर :- *सिद्धदशा, आत्मा का परमध्येय है, वही आत्मा को इष्ट है। ग्रन्थकर्ता, व्याख्याता, श्रोता और अनुष्ठाता को सिद्धस्वरूप प्राप्त करने की भावना है; इस कारण सिद्धभगवान को नमस्कार करके ग्रन्थकर्ता ने ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है। जिसे जिस गुण की प्राप्ति की भावना होती है, वह उस गुणधारी का बहुमान करके, उसको नमस्कार करता है — यह स्वाभाविक है। जैसे, धनुर्विद्या की प्राप्ति का अभिलाषी पुरुष, धनुर्विद्या के ज्ञाता का बहुमान करता है; वैसे ही सिद्धपद की प्राप्ति की भावनावाला जीव, सिद्धपद को प्राप्त सिद्धभगवान को नमस्कार करके, शुद्धात्मा का आदर करता है।*

तथा यह अध्यात्मशास्त्र है, इस कारण इसमें प्रथम सिद्धभगवान को नमस्कार करना उचित ही है। ***(द्रव्यसंग्रह, गाथा १ की टीका)***

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी समयसार का प्रारम्भ करते हुए प्रथम ***'वंदितु सव्व सिद्धे'*** *कहकर सर्व सिद्धों को नमस्कार किया है।*

अरहन्तादिक को एकदेश सिद्धपना प्रगट हुआ है; अतः सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करने से उसमें पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों को नमस्कार हो जाता है।

इस कारण शास्त्रकर्ता ने मङ्गलाचरण में प्रथम सिद्धभगवान को नमस्कार किया है।

अब, उक्त प्रकार के सिद्धस्वरूप का तथा उसकी प्राप्ति के उपाय के उपदेशदाता इष्टदेवता विशेष 'सकलात्मकी' (अरहन्त भगवान की) स्तुति करते हुए कहते हैं :—

जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती विभूतयस्तीर्थकृतोप्यनीहितुः।
शिवाय धात्रे सुगताय बिष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः ॥२॥

यस्य भगवतो जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। काः ? भारती-विभूतयः भारत्याः वाण्याः विभूतयो बोधितसर्वात्म-हितत्वादिसम्पदः। कथं भूतस्यापि जयन्ति? अवदतोऽपि ताल्वोष्ठ पुटव्यापारेण वचनमनुच्चारयतोऽपि।

उक्तं च -

बिन अक्षर इच्छा वचन, सुखद जगत् विख्यात।
धारक ब्रह्मा विष्णु बुध, शिव जिन सो ही आप्त॥ २॥

अन्वयार्थ :- **(यस्य तीर्थकृतः)** जिस तीर्थङ्कर की **(अनीहितुः अपि)** बिना इच्छा के, अर्थात् इच्छा के अभाव में भी एवं **(अवदतः अपि)** बिना बोले भी, अर्थात् तालु-ओष्ठ आदि द्वारा शब्दोच्चारण नहीं किये जाने पर भी, **(भारती विभूतयः)** दिव्यध्वनि, अर्थात् ओंकाररूप जिनवाणी की विभूति **(जयन्ति)** जयवन्त वर्तती है-सदैव जय को प्राप्त होती है, **(तस्मै शिवाय)** उस शिवस्वरूप परमकल्याणकारक या अक्षयसुखस्वरूप परमात्मा के लिए **(धात्रे)** ब्रह्मस्वरूप सन्मार्ग के उपदेश द्वारा, लोक के उद्धारक विधाता के लिए **(सुगताय)** सद्बुद्धि एवं सद्गति को प्राप्त परमात्मा के लिए **(विष्णवे)** अपने केवलज्ञान द्वारा समस्त चराचर पदार्थ में व्याप्त होनेवाले, विष्णुस्वरूप सर्वदर्शी सर्वज्ञ परमात्मा के लिए एवं **(जिनाय)** संसार परिभ्रमण के कारणभूत मोह-राग-द्वेष तथा इन्द्रिय के विषयों को जीतनेवाले वीतरागी जिनेन्द्र भगवान के लिए और **(सकलात्मने)** ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का अभाव करनेवाले अरहन्त परमात्मा के लिए **(नमः)** नमस्कार हो।

टीका :- जिन भगवान की जयवन्त वर्तती है, अर्थात् सर्वोत्कृष्टरूप से वर्तती है। क्या (जयवन्त वर्तती है) ? भारती की विभूतियाँ। भारती की, अर्थात् वाणी की; और विभूतियाँ, अर्थात् सर्व आत्माओं के हित का उपदेश देना — इत्यादिरूप सम्पदाएँ (जयवन्त वर्तती हैं)।

कैसे होते हुए (उनकी वाणी की विभूतियाँ) जयवन्त वर्तती हैं ? नहीं बोलते होने पर भी, अर्थात् तालु-ओष्ठ के संपुटरूप (संयोगसम) व्यापार द्वारा वचनोच्चार किये बिना भी (उनकी वाणी प्रवर्तती है)।

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पंदितोष्ठद्वयं,
नो वांछाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमम्।
शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः,
तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः॥ १॥

अथवा भारती च विभूतयश्च छत्रत्रयादयः। पुनरपि कथम्भूतस्य ? तीर्थकृतो-ऽप्यनीहितुः ईहा वाञ्छा मोहनीय-कर्मकार्यं, भगवति च तत्कर्मणः प्रक्षयात्तस्याः सद्भावानुपपत्तिरतोऽनीहितुरपि तत्करणेच्छारहितस्यापि, तीर्थकृतः संसारोत्तरण-हेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः तत्कृतवतः। किं नाम्ने तस्मै ? सकलात्मने शिवाय शिवं परमसौख्यं परमकल्याणं निर्वाणं चोच्यते तत्प्राप्ताय। धात्रे असिमषिकृष्यादिभिः

तथा कहा है कि — **यत्सर्वात्महितं.....**

जो सर्व आत्माओं को हितरूप है, वर्णरहित निरक्षरी है; दोनों ओष्ठ के परिस्पन्दन-हलन-चलनरूप-व्यापार से रहित है; किसी दोष से मलिन नहीं है; उसके (उच्चारण में) श्वास का कम्पन नहीं होने से अक्रम (एक साथ) है और जिसे शान्त तथा क्रोधरूपी विष से रहित (मुनिगण) के साथ, पशुगण ने भी कर्ण द्वारा (अपनी भाषा में) सुनी है, वह दुःखविनाशक सर्वज्ञ की अपूर्व वाणी हमारी रक्षा करो।

अथवा '**भारती विभूतयः**' का अर्थ 'भारती, अर्थात् वाणी और विभूतियाँ, अर्थात् तीन छत्रादि' — ऐसा भी होता है।

तथा कैसे भगवान की ? तीर्थ के कर्ता होने पर भी इच्छारहित की। इच्छा, अर्थात् वाँछा, जो मोहनीयकर्म का कार्य है, उस कर्म का भगवान को क्षय होने से, उनके उसका (वाँछा का) असद्भाव (अभाव) है; अतः वे इच्छारहित होने पर भी-वे करने की इच्छारहित होने पर भी 'तीर्थकृत' हैं, अर्थात् संसार से तारने के (पार करने के) कारणभूतपने के कारण, तीर्थ समान, अर्थात् तीर्थ / आगम, उसके करनेवाले हैं — उनकी वाणी जयवन्त वर्तती है।

कैसे नामवाले उन्हें (नमस्कार) ? सकलात्मा को, शिव को[१]। शिव, अर्थात् परमसुख, परमकल्याण और जो निर्वाण कहा जाता है, वह जिन्होंने प्राप्त किया — ऐसे को, 'धाता' को

१. शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयं।
प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः॥ (श्री आप्तस्वरूपः)

सन्मार्गोपदेशकत्वेन च सकललोकाभ्युद्धारकाय। सुगताय शोभनं गतं ज्ञानं यस्यासौ सुगतः, सुष्ठु वा अपुनरावर्त्य गतिं गतः सम्पूर्ण वा अनन्तचतुष्टयं गतः प्राप्तः सुगतस्तस्मै। विष्णवे केवलज्ञानेनाशेषवस्तुव्यापकाय। जिनाय अनेकभवगहनप्रापण-हेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनस्तस्मै। सकलात्मने सह कलया शरीरेण वर्तत इति सकलः सचासावात्मा च तस्मै नमः॥ २॥

— असि-मसि-कृषि आदि द्वारा सन्मार्ग के उपदेशक होने के कारण, जो सकल लोक के अभ्युद्धारक (तारणहार) हैं, उनको, 'सुगत' को — श्रेष्ठ है, गत, अर्थात् ज्ञान जिनका अथवा जो भले प्रकार अपुनरावर्त्य गति को (मोक्ष को) प्राप्त हुए है, उनको, अथवा सम्पूर्ण या अनन्तचतुष्टय को जिन्होंने प्राप्त किया है — ऐसे सुगत को, 'विष्णु'[१] को — जो केवलज्ञान द्वारा अशेष (समस्त) वस्तुओं में व्यापक हैं — ऐसे को, 'जिन'[२] को — अनेक भवरूपी अरण्य (वन) को प्राप्त कराने के कारणभूत कर्मशत्रुओं को जिन्होंने जीता है, उन जिन को — ऐसे सकलात्मा को — कल, अर्थात् शरीरसहित जो वर्तते हैं, वे सकल; और सकल, अर्थात् सशरीर आत्मा, वह 'सकलात्मा' उनको नमस्कार हो॥२॥

भावार्थ :- *जो तीर्थङ्कर हैं, शिव हैं, विधाता हैं, सुगत हैं, विष्णु हैं तथा समवसरणादि वैभवसहित हैं और भव्यजीवों को कल्याणरूप जिनकी दिव्यवाणी (दिव्यध्वनि) मुख से नहीं, किन्तु सर्वांग से इच्छा बिना ही खिरती है और जयवन्त वर्तती है, उन सशरीर शुद्धात्मा को, अर्थात् जीवनमुक्त अरहन्त परमात्मा को यहाँ नमस्कार किया है।*

यह भी माङ्गलिक श्लोक है। इसमें ग्रन्थकार ने श्री अरहन्त परमात्मा और उनकी दिव्यध्वनि को नमस्कार किया है।

श्री अरहन्तदेव कैसे हैं?

तालु, ओष्ठ आदि की क्रियारहित और इच्छारहित उनकी वाणी जयवन्त वर्तती है। वे तीर्थ के कर्ता हैं, अर्थात् जीवों को मोक्ष का मार्ग बतलानेवाले हैं-हितोपदेशी हैं; मोह के

---

१. विश्वं हि द्रव्यपर्यायं विश्वं त्रैलोक्यगोचरम्।
व्याप्तं ज्ञानत्विषा येन स विष्णुर्व्यापको जगत्॥

२. रागद्वेषादयो येन जिताः कर्म-महाभटाः।
कालचक्रविनिर्मुक्तः स जिनः परिकीर्तितः॥२१॥ (श्री आप्तस्वरूपः)

अभाव के कारण, उनके किसी भी प्रकार की इच्छा शेष नहीं रही, अर्थात् वे वीतरागी हैं और ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का नाश होने से, उनके अनन्त ज्ञानादि गुण प्रगट हुए हैं, अर्थात् वे 'सर्वज्ञ' हैं।

तथा वे शिव हैं, धाता हैं, सुगत हैं, विष्णु हैं, जिन हैं और सकलात्मा हैं — ये सब उनके गुणवाचक नाम हैं।

भगवान की वाणी कैसी है ?

वह दिव्यवाणी है, जो भगवान के सर्वांग से बिना इच्छा के छूटती है, सर्व प्राणियों की हितरूप और निरक्षरी है।

तथा भगवान की दिव्यध्वनि को देव, मनुष्य, तिर्यञ्चादि सर्व जीव अपनी-अपनी भाषा में अपने ज्ञान की योग्यतानुसार समझते हैं। उस निरक्षर ध्वनि को 'ओंकारध्वनि' कहते हैं। श्रोताओं के कर्ण प्रदेश तक वह ध्वनि न पहुँचे, वहाँ तक वह अनक्षर ही है और जब तक श्रोताओं के कर्ण में प्राप्त होती है (पहुँचती है), तब अक्षररूप होती है।

(श्री गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गाथा २२७ की टीका)

'.....जैसे, सूर्य की ऐसी इच्छा नहीं है कि मैं मार्ग प्रकाशूँ किन्तु स्वाभाविक ही उसकी किरणें फैलती हैं, जिससे मार्ग का प्रकाशन होता है; उसी प्रकार श्री वीतराग केवली भगवान के ऐसी इच्छा नहीं कि हम मोक्षमार्ग को प्रकाशित करें, परन्तु स्वाभाविकरूप से ही अघातिकर्म के उदय से उनके शरीररूप पुद्गल, दिव्यध्वनिरूप परिणमते हैं, जिनसे मोक्षमार्ग का प्रकाशन सहज होता है।' ***(मोक्षमार्गप्रकाशक, प्रथम अध्याय)***

भगवान की दिव्यध्वनि द्रव्यश्रुत वचनरूप है, वह सरस्वती की मूर्ति है, क्योंकि वचनों द्वारा अनन्त धर्मात्मक आत्मद्रव्य को वह परोक्ष बताती है। केवलज्ञान अनन्त धर्मसहित आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है; अत: वह भी सरस्वती की मूर्ति है। इस प्रकार सर्व पदार्थों के तत्त्व को बतलानेवाली ज्ञानरूप और वचनरूप अनेकान्तमयी सरस्वती की मूर्ति है। सरस्वती के वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादिक बहुत नाम हैं। ***(श्री समयसार, कलश २)***

निष्कल से अन्यरूप आत्मा को (निष्कल नहीं, ऐसे सकल आत्मा को) नमस्कार करके आप क्या करोगे ?

ननु-निष्कलेतररूपमात्मानं नत्वा भवान् किं करिष्यतीत्याह -

श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये॥३॥

अथ इष्टदेवतानमस्कारकरणानन्तरं। अभिधास्ये कथयिस्ये। कं? विविक्त-मात्मानं कर्ममलरहितं जीवस्वरूपं। कथमभिधास्ये? यथात्मशक्ति आत्मशक्तेरनति-क्रमेण। किं कृत्वा ? समीक्ष्य तथाभूतमात्मानं सम्यग्ज्ञात्वा। केन? श्रुतेन-

एगो मे सासओ आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

वह कहते है :—

चहें अतीन्द्रिय सुख उन्हें, आत्मा शुद्ध स्वरूप।
श्रुत अनुभव अनुमान से, कहूँ शक्ति अनुरूप॥ ३॥

अन्वयार्थ :- **(अथ)** परमात्मा को नमस्कार करने के अनन्तर **(अहं)** मैं [पूज्यपाद आचार्य] **(विविक्तं आत्मानं)** कर्ममलरहित आत्मा के शुद्धस्वरूप को **(श्रुतेन)** शास्त्र के द्वारा **(लिंगेन)** अनुमान व हेतु के द्वारा **(समाहितान्तःकरणेन)** एकाग्र मन के द्वारा **(सम्यक् समीक्ष्य)** अच्छी तरह अनुभव करके **(कैवल्य-सुखस्पृहाणां)** कैवल्यपद-विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रियसुख की इच्छा रखनेवालों के लिए **(यथात्म-शक्ति)** अपनी शक्ति के अनुसार **(अभिधास्ये)** कहूँगा।

टीका :- अब, इष्टदेवता को नमस्कार करने के पश्चात् मैं कहूँगा। क्या (कहूँगा) ? विविक्त आत्मा को, अर्थात् कर्ममलरहित जीवस्वरूप को (कहूँगा)। किस रीति से कहूँगा? यथाशक्ति-आत्मशक्ति का उल्लंघन किये बिना (कहूँगा)। क्या करके (कहूँगा) ? समीक्षा करके, अर्थात् वैसे आत्मा को (विविक्त आत्मा को) सम्यक् प्रकार जानकर (कहूँगा)। किस द्वारा (किस साधन द्वारा) ? श्रुत द्वारा —

'ज्ञान-दर्शनलक्षणवाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है; अन्य सब संयोग लक्षणवाले भाव, मुझसे बाह्य हैं।'

इत्यादि आगम द्वारा तथा लिङ्ग, अर्थात् हेतु द्वारा (कहूँगा), वह इस प्रकार —

इत्याद्यागमेन। तथा लिंगेन हेतुना। तथाहि-शरीरादिरात्मभिन्नोभिन्नलक्षण-लक्षितत्त्वात्। ययोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्त्वं तयोर्भेदो यथा जलानलयोः, भिन्नलक्षणलक्षि-तत्त्वं चात्मशरीरयोरिति। न चानयोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्त्वमप्रसिद्धम्। आत्मनः उपयोग-स्वरूपो-पलक्षिततत्वात्शरीरादेस्तद्विपरीतत्त्वात्। समाहितान्तः करणेन समाहितमेकाग्री-भूतं तच्च तदन्तः करणं च मनस्तेन। सम्यक्-समीक्ष्य सम्यग्ज्ञात्वा अनुभूयेत्यर्थः। केषां तथाभूतमात्मान-मभिधास्ये? कैवल्यसुखस्पृहाणां कैवल्ये सकलकर्मरहितत्त्वे सति सुखं तत्र स्पृहा अभिलाषो येषां, कैवल्ये विषयाप्रभवे वा सुखे, कैवल्यसुखयोः स्पृहा येषाम्॥३॥

शरीरादि आत्मा से भिन्न हैं, क्योंकि वे भिन्न लक्षणों से लक्षित हैं। जो भिन्न लक्षणों से लक्षित हैं, वे दोनों (एक-दूसरे से) भिन्न हैं; जैसे — जल और अग्नि (एक-दूसरे से) भिन्न हैं; वैसे ही आत्मा और शरीर (दोनों) भिन्न लक्षणों से लक्षित हैं और दोनों का भिन्न लक्षणों से लक्षितपना अप्रसिद्ध नहीं (अर्थात्, प्रसिद्ध है), क्योंकि आत्मा उपयोगस्वरूप से उपलक्षित है और शरीरादिक उससे विपरीत लक्षणवाले हैं।

समाहित अन्तःकरण से—समाहित, अर्थात् एकाग्र हुए और अन्तःकरण, अर्थात् मन; एकाग्र हुए मन द्वारा, सम्यक् प्रकार से समीक्षा करके-(विविक्त आत्मा को) जान करके-अनुभव करके (कहूँगा) — ऐसा अर्थ है। मैं किसको उस प्रकार के आत्मा को कहूँगा? कैवल्य सुख की स्पृहावालों को। केवल, अर्थात् सकल कर्मों से रहित होने पर, जो सुख (उपजता है), उसकी स्पृहा (अभिलाषा) करनेवालों को (कहूँगा)। कैवल्य, अर्थात् विषयों से उत्पन्न नहीं हुए — ऐसे सुख की अथवा कैवल्य और सुख की स्पृहावालों को (कहूँगा)॥३॥

भावार्थ :- *श्री पूज्यपादस्वामी प्रतिज्ञारूप से कहते हैं कि मैं श्रुत द्वारा, युक्ति अनुमान द्वारा और चित्त की एकाग्रता द्वारा, शुद्धात्मा को यथार्थ जानकर तथा उसका अनुभव करके, निर्मल अतीन्द्रियसुख की भावनावाले भव्यजीवों को मेरी शक्ति अनुसार शुद्ध आत्मा के स्वरूप को कहूँगा।*

विशेष स्पष्टीकरण -

आगम में आत्मा का स्वरूप —

समयसार में कहा है कि —

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥ ३८॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित आत्मा जानता है कि — 'निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ; कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है — यह निश्चय है।[१]'

युक्ति (अनुमान) —

शरीर और आत्मा, एक-दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि इन दोनों के लक्षण[२] भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा, ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला है और शरीरादि उससे विरुद्ध लक्षणवाले हैं, अर्थात् अचेतन-जड़ हैं। जिनके लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं, वे सब एक-दूसरे से भिन्न होते हैं; जैसे कि जल का लक्षण शीतलपना और अग्नि का लक्षण उष्णपना है। इस प्रकार दोनों के लक्षण भिन्न हैं, इस कारण जल से अग्नि भिन्न है।

जैसे, सोने और चाँदी का एक पिण्ड होने पर भी, उसमें सोना अपने पीताशादि लक्षणों से और चाँदी अपने शुक्लादि लक्षणों से भिन्न-भिन्न हैं — ऐसा जान सकते हैं; वैसे ही जीव और कर्म-नोकर्म (शरीर), एक क्षेत्र में होने पर भी, अपने-अपने लक्षणों द्वारा वे एक-दूसरे से भिन्न ज्ञात हो सकते हैं।[३]

तथा अन्तरङ्ग राग-द्वेषादि विकारीपरिणाम भी वास्तव में आत्मा के ज्ञानलक्षण से भिन्न हैं, क्योंकि राग-द्वेषादिभाव क्षणिक और आकुलता लक्षणवाले हैं; वे स्व-पर को नहीं जानते; जबकि ज्ञानस्वभाव तो नित्य और शान्त-अनाकुल है, स्व-पर को जानने का उसका स्वभाव है; इस प्रकार भिन्न लक्षण द्वारा ज्ञानमय आत्मा, रागादि से भिन्न है — ऐसा निश्चित होता है।[४] अतः आत्मा, परमार्थ से परभावों से, अर्थात् शरीरादि बाह्यपदार्थों से तथा राग-द्वेषादि अन्तरङ्ग परिणामों से विविक्त-भिन्न है।

---

१. मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।
कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे॥ श्री समयसार, गाथा-३८॥

२. बहुत से मिले हुए पदार्थों में से, किसी एक पदार्थ को भिन्न करनेवाले हेतु को लक्षण कहते हैं। - श्री जैन सिद्धान्त प्रवेशिका व न्याय दीपिका।

३. श्री समयसार, गाथा २७-२८

४. श्री समयसार, गाथा २९४

कतिभेदः पुनरात्मा भवति ? येन विविक्तमात्मानमिति विशेष उच्यते। तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य वा त्यागः कर्तव्य इत्याशंक्याह :-

[1]बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्॥ ४॥

अनुभव *- आगम और युक्ति द्वारा आत्मा का शुद्धस्वरूप जानकर, अपने त्रिकाल शुद्धात्मा के सन्मुख होने से आचार्य को जो शुद्धात्मा का अनुभव हुआ है, उस अनुभव से वे विविक्त आत्मा का स्वरूप बतलाना चाहते हैं।*

जिसे आत्मा के अतीन्द्रियसुख की ही अभिलाषा है; इन्द्रिय विषयसुख की जिसे अभिलाषा नहीं है, वैसे (जिज्ञासु) भव्यजीवों को ही आचार्य, विविक्त आत्मा का (शुद्धात्मा का) स्वरूप कहना चाहते हैं।

इस प्रकार श्री पूज्यपाद आचार्य आगम, युक्ति, और अनुभव से आत्मा के शुद्धस्वरूप को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

आत्मा के पुनः कितने भेद हैं, जिससे 'विविक्त आत्मा' — ऐसा विशेष कहा गया है ? और आत्मा के उन भेदों में किसके द्वारा किसका ग्रहण और किसका त्याग करना योग्य है ?

ऐसी आशङ्का करके कहते हैं —

त्रिविधिरूप सब आतमा, बहिरात्मा पद छेद।
अन्तरात्मा होयकर, परमातम पद वेद॥ ४॥

अन्वयार्थ :- **(सर्वदेहिषु)** सर्व प्राणियों में **(बहिः)** बहिरात्मा **(अन्तः)** अन्तरात्मा **(च परः)** और परमात्मा, **(इति)** इस तरह **(त्रिधा)** तीन प्रकार का **(आत्मा)** आत्मा **(अस्ति)** है। **(तंत्र)** आत्मा के उन तीन भेदों में से **(मध्योपायात्)** अन्तरात्मा के उपाय द्वारा, **(परमं)** परमात्मा को **(उपेयात्)** अङ्गीकार करना चाहिए और **(बहिः)** बहिरात्मा को **(त्यजेत्)** छोड़ना चाहिए।

टीका :- बहिः, अर्थात् बहिरात्मा; अंतः, अर्थात् अन्तरात्मा; और परः, अर्थात् परमात्मा

---

१. **तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं। तत्थ परो झाइज्जइ अंतीवाएण चयहि बहिरप्पा॥**
अर्थात्, वह आत्मा प्राणियों के तीन प्रकार का है; अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। अन्तरात्मा के उपाय द्वारा बहिरात्मपन को छोड़कर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। *(- श्री मोक्षप्राभृत, कुन्दकुन्दः)*

बहिर्बहिरात्मा, अन्तः अन्तरात्मा, परश्च परमात्मा इति त्रिधा आत्मा त्रिप्रकार आत्मा। क्व ? सर्वदेहिषु सकलप्राणिषु। ननु अभव्येषु बहिरात्मन एव सम्भवात् कथं सर्वदेहिषु त्रिधात्मा स्यात्? इत्यप्यनुपपन्नं तत्रापि द्रव्यरूपतया त्रिधात्मसद्भावोपपत्तेः कथं पुनस्तत्र पंचज्ञानावरणान्युपपद्यन्ते? केवलज्ञानाद्याविर्भावसामग्री हि तत्र कदापि न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, न पुनः तद्योगद्रव्यस्याभावादिति। भव्यराश्यपेक्षया वा सर्वदेहिग्रहणं। आसन्नदूरदूरतरभव्येषु अभव्यसमानभव्येषु च सर्वेषु त्रिधाऽऽत्मा विद्यत इति। तर्हि सर्वज्ञे परमात्मन एव सद्भावाद् बहिरन्त-रात्मनोरभावात्त्रिधात्मनो

— इस प्रकार त्रिधा, अर्थात् तीन प्रकार का आत्मा है। ये (प्रकार-भेद) किसमें हैं? सर्व देहियों में-समस्त प्राणियों में।

(शङ्का -) अभव्यों में बहिरात्मपना ही सम्भव होने से, सर्व देहियों (प्राणियों) में तीन प्रकार का आत्मा है — ऐसा किस प्रकार हो सकता है?

(समाधान -) ऐसा कहना भी योग्य नहीं, क्योंकि वहाँ भी (अभव्य में भी) द्रव्यरूपपने से, तीनों प्रकार के आत्मा का सद्भाव घटित होता है।

(आशङ्का -) वहाँ पाँच ज्ञानावरण (कर्मों) की उपपत्ति किस प्रकार घट सकती है?

(समाधान -) केवलज्ञानादि के प्रगट होनेरूप सामग्री ही उसके होनी नहीं है, इस कारण उसमें अभव्यपना है; न कि तद्योग्य द्रव्य के अभाव से (अभव्यपना है) अथवा भव्यराशि की अपेक्षा से सर्व देहियों का ग्रहण समझना। आसन्न भव्य, दूर भव्य, दूरतर भव्य तथा अभव्य जैसे भव्यों में-सर्व में तीन प्रकार का आत्मा है।

(शङ्का -) तो सर्वज्ञ में परमात्मा का ही सद्भाव होने से और (उनमें) बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा का असद्भाव होने से, उसमें (सिद्ध में) तीन प्रकार के आत्मा का विरोध आयेगा?

(समाधान -) ऐसा कहना भी योग्य नहीं है क्योंकि भूतपूर्व* प्रज्ञापननय की अपेक्षा से, उनमें घृतघटवत् उस विरोध की असिद्धि है (उसमें विरोध नहीं आता)। जो सर्वज्ञ अवस्था में परमात्मा हुए, वे भी पूर्व में बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा थे।

* नोट - भूत-भावी प्रज्ञापननय, जो भूतकाल की पर्याय को वर्तमानवत् कहे, उस ज्ञान (अथवा वचन) को भूतनैगमनय अथवा भूतपूर्व प्रज्ञापननय कहते हैं। जो भविष्यकाल की पर्याय को वर्तमानवत् कहे, उस ज्ञान (अथवा वचन) को भावीनैगमनय अथवा भावीप्रज्ञापन नय कहते हैं। (-श्री तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३३)

विरोध इत्यप्ययुक्तम्। भूतपूर्वप्रज्ञापन नयापेक्षया तत्र तद्विरोधासिद्धेः घृतघटवत्। यो हि सर्वज्ञावस्थायां परमात्मा-सम्पन्नः स पूर्वं बहिरात्मा अन्तरात्मा चासीदिति। घृतघटवदन्तरात्मनोऽपि बहिरात्मत्वं परमात्मत्वं च भूतभाविप्रज्ञापननयापेक्षया द्रष्टव्यम्। तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य वा त्यागः कर्तव्य इत्याह उपेयादिति। तत्र तेषु त्रिधात्मसु मध्ये उपेयात् स्वीकुर्यात् परमं परमात्मानं। कस्मात्? मध्योपायात् मध्योऽन्तरात्मा स एवोपायस्तस्मात् तथा बहिः बहिरात्मानं मध्योपायादेव त्यजेत्॥४॥

घृतघट की तरह भूत-भावी प्रज्ञापननय की अपेक्षा से अन्तरात्मा को भी बहिरात्मपना और परमात्मपना समझना।

इन तीनों में से किसका, किस द्वारा ग्रहण करना या किसका त्याग करना? वह कहते हैं। ग्रहण करना, अर्थात् उसमें उन तीन प्रकार के आत्माओं में से, परमात्मपने का स्वीकार (ग्रहण) करना। किस प्रकार? मध्य उपाय से मध्य, अर्थात् अन्तरात्मा, वही उपाय है; उस द्वारा (परमात्मा का ग्रहण करना) तथा मध्य (अन्तरात्मारूप) उपाय से ही, बहिरात्मपने का त्याग करना॥४॥

भावार्थ :- *सर्व जीवों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा — ऐसी तीन प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं। उनमें बहिरात्म अवस्था छोड़नेयोग्य है; अन्तरात्म अवस्था, परमात्मपद की प्राप्ति का साधन है; अतः वह प्रगट करने योग्य है और परमात्म अवस्था जो आत्मा की स्वाभाविक वीतरागी अवस्था है, वह साध्य है; अतः वह परम उपादेय (प्रगट करने योग्य) है।*

प्रश्न - *सर्व प्राणियों में आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं — ऐसा श्लोक में कहा है, किन्तु अभव्य को तो एक बहिरात्म अवस्था ही सम्भव है, तो सर्व प्राणियों के आत्मा की तीन अवस्थाएँ कैसे सम्भव हैं?*

उत्तर - *जो जीव, अज्ञानी बहिरात्मा है, उसमें भी अन्तरात्मा और परमात्मा होने की शक्ति है। भव्य और अभव्यजीवों में भी केवलज्ञानादिरूप परमात्मशक्ति है। यदि उनमें वह शक्ति न हो तो उसके प्रगट न होने में निमित्तरूप केवलज्ञानावरणादि कर्म भी नहीं होना चाहिए, किन्तु बहिरात्मा को (अभव्य को भी) केवलज्ञानावरणादि कर्म तो है; इससे स्पष्ट है कि बहिरात्मा में (भव्य या अभव्य में) केवलज्ञानादि शक्तिपने हैं। अभव्य के उस शक्ति को प्रगट करने जितनी योग्यता नहीं है।*

अनादि से सभी जीवों में केवलज्ञानादिरूप परमस्वभाव शक्तिरूप से है। उस स्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान करके, उसमें लीन हो तो वह केवलज्ञानादि शक्तियाँ प्रगट हो जाएँ और केवलज्ञानावरणादि कर्म स्वयं छूट जाएँ।

श्रीमद्‌राजचन्द्रजी ने कहा है :—

'सर्व जीव हैं सिद्ध सम, जो समझे सो होय'

समस्त जीव, शक्तिरूप से परिपूर्ण सिद्धभगवान जैसे हैं, किन्तु जो अपनी त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वरूप स्वभावशक्ति को सम्यक् प्रकार से समझे, उसकी प्रतीति करे और उसमें स्थिरता करे, वे परमात्मदशा प्रगट कर सकते हैं।

वर्तमान में जो धर्मी जीव, अन्तरात्मा है, उसे पूर्व अज्ञानदशा में बहिरात्मपना था और अब अल्पकाल में परमात्मपना प्रगट होगा।

परमात्मपद को प्राप्त हुए श्री अरहन्त और सिद्धभगवान को भी पूर्व में बहिरात्मदशा थी, उन्होंने जिस समय अपनी स्वाभाविकशक्ति की प्रतीति की और स्वभावसन्मुख हुए, उसी समय उनके बहिरात्मपने का अभाव हो गया और अन्तरात्मदशा प्रगट हुई, तत्पश्चात् उग्रपुरुषार्थ करके स्वभाव में लीन होकर परमात्मा हुए।

इस प्रकार अपेक्षा से प्रत्येक जीव में तीन प्रकार घटित होते हैं — ऐसा समझना।

***विशेष स्पष्टीकरण** –*

***बहिरात्मा** – जो बाह्य शरीरादि, विभावभाव तथा अपूर्ण दशाओं में आत्मवृद्धि करता है, अर्थात् इनके साथ एकत्वबुद्धि करता है, वह बहिरात्मा है। वह आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भूलकर, बाहर में काया और कषायों में निजपना मानता है। उसको भावकर्म और द्रव्यकर्म के साथ एकत्वबुद्धि है; उन्हीं से अपने को लाभ-हानि मानता है। वह मिथ्यादृष्टि जीव, अनादि काल से संसार परिभ्रमण के दुःखों से दुःखी होता है।*

***अन्तरात्मा** – जिसको शरीरादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का भान है, वह अन्तरात्मा है। उसे स्व-पर का भेदविज्ञान है। उसे ऐसा विवेक वर्तता है कि — 'मैं ज्ञान-दर्शनरूप हूँ, एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है; अन्य सब संयोग लक्षणरूप, अर्थात् व्यवहाररूप जो भाव हैं, वे सब मुझसे भिन्न हैं, मुझसे बाह्य हैं।' — ऐसा सम्यग्दृष्टि आत्मा, मोक्षमार्ग में स्थित है।*

तत्र बहिरन्तः परमात्मनां प्रत्येकं लक्षणमाह -

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः॥ ५॥

शरीरादौ शरीरे आदिशब्दाद्वाङ्मनसोरेव ग्रहणं तत्र जाता आत्मेतिभ्रान्तिर्यस्य स बहिरात्मा भवति। आन्तरः अन्तर्भवः। तत्र भव इत्यणष्टेर्भमात्रे टिलोपमित्यस्या-ऽनित्यत्वं येषां च विरोधः शाश्वतिक इति निर्देशात्, ''अन्तरे वा भव आन्तरोऽन्तरात्मा। स कथं भूतो भवति ? चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः चित्तं च विकल्पो दोषाश्च रागादयः, आत्मा च शुद्धं चेतनाद्रव्यं तेषु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य। चित्तं चित्तत्वेन बुध्यते

परमात्मा *- जिनने अनन्त ज्ञान-दर्शनादिरूप चैतन्यशक्तियों का पूर्णरूपेण विकास करके, सर्वज्ञपद प्राप्त किया है, वे परमात्मा हैं।*

वहाँ बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा - प्रत्येक का स्वरूप कहते हैं :—

बहिरातम भ्रम वश गिने, आत्मा तन इक रूप।
अन्तरात्म मल शोधता, परमात्मा मल मुक्त॥ ५॥

अन्वयार्थ :- (**शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा**) शरीरादिक में आत्मभ्रान्ति को धरनेवाला, उन्हें भ्रम से आत्मा समझनेवाला, बहिरात्मा है।(**चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः आन्तरः**) चित्त के, राग-द्वेषादिक दोषों के और आत्मा के विषय में अभ्रान्त रहनेवाला-उनका ठीक विवेक रखनेवाला, अर्थात् चित्त को चित्तरूप से, दोषों को दोषरूप से और आत्मा को आत्मारूप से अनुभव करनेवाला, अन्तरात्मा कहलाता है।(**अतिनिर्मलः परमात्माः**) सर्व कर्ममल से रहित जो अत्यन्त निर्मल है, वह परमात्मा है।

टीका :- शरीर आदि में — शरीर में और 'आदि' शब्द से वाणी तथा मन का ही ग्रहण समझना; उनमें जिसे 'आत्मा' — ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न हुई है, वह बहिरात्मा है।

अन्तर्भव अथवा अंतरे भव, वह आन्तर, अर्थात् अन्तरात्मा। वह (अन्तरात्मा) कैसा है ? वह चित्त, दोष और आत्मा सम्बन्धी भ्रान्तिरहित है। चित्त, अर्थात् विकल्प; दोष, अर्थात् रागादि और आत्मा, अर्थात् शुद्धचेतना द्रव्य, उनमें जिसकी भ्रान्ति नाश को प्राप्त हुई है, अर्थात् जो चित्त को चित्तरूप से; दोष का दोषरूप से; और आत्मा को आत्मारूप से जानता है, वह

दोषाश्च दोषत्वेन आत्मा आत्मत्वेनेत्यर्थः। चित्तदोषेषु वा विगता आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य। परमात्मा भवति, किं विशिष्टः ? अतिनिर्मलः प्रक्षीणाशेषकर्म मलः॥ ५॥''

अन्तरात्मा है अथवा चित्त और दोषों में 'आत्मा' माननेरूप भ्रान्ति, जिसके जाती रही है, वह (अन्तरात्मा) है।

परमात्मा कैसे होते हैं? (परमात्मा) अति निर्मल हैं, अर्थात् जिनके अशेष (समस्त) कर्ममल नष्ट हो गया है, वे (परमात्मा) हैं॥५॥

भावार्थ :- *जो शरीरादि बाह्यपदार्थों में आत्मा की भ्रान्ति करता है, अर्थात् उन्हें ही आत्मा मानता है, वह 'बहिरात्मा' है। विकल्प, रागादि दोष और चैतन्यस्वरूप आत्मा के विषय में जिसको भ्रान्ति नहीं है, अर्थात् जो विकार को विकाररूप से; और आत्मा को आत्मारूप से — एक-दूसरे से भिन्न समझता है, वह 'अन्तरात्मा' है।*

जो रागादि दोषों से सर्वथा रहित हैं, अत्यन्त निर्मल हैं और सर्वज्ञ हैं, वे 'परमात्मा' हैं।

विशेष स्पष्टीकरण -

बहिरात्मा :- *जो शरीरादि (शरीर, वाणी, मन इत्यादि) अजीव हैं, उनमें जीव की कल्पना करता है तथा जीव में अजीव की कल्पना करता है; दुःखदायी राग-द्वेषादि विभावभावों को सुखदायी समझता है; ज्ञान-वैराग्यादि, जो आत्मा को हितकारी है, उन्हें अहितकारी जानकर, अरुचि या द्वेष करता है; शुभकर्मफल को भला और अशुभकर्मफल को बुरा मानकर, उसके प्रति राग-द्वेष करता है; शरीर के जन्म से, अपना जन्म और नाश से, अपना नाश मानता है, वह मिथ्यादृष्टि 'बहिरात्मा' है।*

ये शरीरादि जड़पदार्थ, प्रगटरूप से आत्मा से भिन्न हैं, ये कोई पदार्थ, आत्मा के नहीं हैं; आत्मा से पर (भिन्न) ही हैं, तथापि उन्हें अपना मानना और शरीर की बोलने-चलने आदि क्रियाओं को मैं करता हूँ, इनसे मुझे लाभ-अलाभ होता है, यह शरीर मेरा है, मैं पुरुष, मैं स्त्री, मैं राजा, मैं रंक, मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं सफेद, मैं काला — इस प्रकार बाह्यपदार्थों से अपने आत्मा को भिन्न नहीं जानता, वह परपदार्थों को ही आत्मा मानता है और मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीव-अजीवतत्त्वों के स्वरूप में भ्रान्ति से प्रवर्तता है, वह जीव 'बहिरात्मा' है।

परपदार्थों में आत्मभ्रान्ति के कारण यह अज्ञानी जीव, रात-दिन विषयों की चाहरूप दावानल में जल रहा है, आत्मशान्ति खो बैठा है, अतीन्द्रिय चैतन्य आत्मा को भूलकर, बाह्य

इन्द्रिय विषयों में मूर्छित हो रहा है और आकुलतारहित मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता।

अन्तरात्मा :- *चैतन्य लक्षणवाला जीव है और उससे विपरीत लक्षणवाला अजीव है। आत्मा का स्वभाव, ज्ञाता-दृष्टा है, अमूर्तिक है और शरीरादिक परद्रव्य हैं, वे पुद्‌गल पिण्डरूप जड़ हैं, विनाशीक हैं; वे मेरे नहीं और मैं उनका नहीं — ऐसा भेदविज्ञान करनेवाला सम्यग्दृष्टि 'अन्तरात्मा' है।*

वह जानता है कि 'मैं देह से भिन्न हूँ, देहादिक मेरे नहीं हैं; मेरा तो एक ज्ञान-दर्शन लक्षणरूप शाश्वत आत्मा ही है; अन्य सर्व संयोग लक्षणवाले (व्यावहारिकभाव) जो कोई भाव हैं, वे सब मुझसे भिन्न हैं। आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान-वैराग्यरूप भाव प्रगट होता है, वह संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण और मुझको हितरूप है तथा बाह्यपदार्थों के आश्रय से जो रागादिभाव होते हैं, वे आस्रव-बन्धरूप हैं और संसार के कारण हैं तथा मुझे अहितकर हैं; इस प्रकार जीवादिक तत्त्वों को जैसे हैं, वैसे जानकर, उनकी सच्ची प्रतीति करके, जो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा में ही अन्तर्मुख होकर वर्तता है, वह 'अन्तरात्मा' है।

अन्तरात्मा के तीन भेद हैं — १. उत्तम अन्तरात्मा, २. मध्यम अन्तरात्मा, और ३. जघन्य अन्तरात्मा।

अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग परिग्रहों से रहित शुद्धोपयोगी आत्मध्यानी दिगम्बर मुनि, 'उत्तम अन्तरात्मा' हैं। ये महात्मा, सोलह कषायों[1] के अभाव द्वारा क्षीणमोह पदवी (बारहवाँ गुणस्थान) प्राप्त कर स्थित हैं।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती व्रतरहित सम्यग्दृष्टि, 'जघन्य अन्तरात्मा' है।

इन दोनों (उत्तम और जघन्य) के मध्य स्थित सर्व 'मध्यम अन्तरात्मा' है, अर्थात् पञ्चम से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव, 'मध्यम अन्तरात्मा' हैं।

परमात्मा - *जिन्होंने अनन्त ज्ञान-दर्शनादिरूप चैतन्यशक्तियों का पूर्णरूपेण विकास करके सर्वज्ञपद प्राप्त किया है, वे 'परमात्मा' हैं।*

परमात्मा के दो प्रकार हैं — सकलपरमात्मा और निकलपरमात्मा।

---

१. अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन तथा प्रत्येक के क्रोध, मान, माया, लोभरूप भेद।

तद्वाचिकां नाममालां दर्शयन्नाह -

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः॥ ६॥

अरहन्तपरमात्मा, सकलपरमात्मा हैं और सिद्धपरमात्मा, निकलपरमात्मा हैं, वे केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय से सहित हैं।

अरहन्त परमात्मा के चार अघातियाकर्म शेष हैं, उनका प्रतिक्षण क्षय होता जाता है। उनके बाहर में समवसरणादि दिव्यवैभव होता है; उनके बिना इच्छा के ही भव्यजीवों के कल्याणरूप दिव्यध्वनि छूटती है; वे परम हितोपदेशक हैं; परमौदारिकशरीर के संयोगसहित होने से, वे सकल (कल, अर्थात् शरीरसहित) परमात्मा कहलाते हैं।

जो ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म से रहित हैं, शुद्धज्ञानमय हैं, औदारिकशरीर (कल) रहित हैं, वे निर्दोष और परमपूज्य सिद्धपरमेष्ठी 'निकलपरमात्मा' कहलाते हैं, वे अनन्त काल तक अनन्त सुख को भोगते हैं।

'आत्मा में परमानन्द की शक्ति भरी पड़ी है; बाह्य इन्द्रिय विषयों में वास्तविक सुख नहीं है — ऐसी अन्तर्प्रतीति करके, धर्मी जीव अन्तर्मुख होकर आत्मा के अतीन्द्रियसुख का स्वाद लेता है। जैसे, छोटी पीपल के दाने-दाने में चौंसठ पहरी चरपराहट की सामर्थ्य भरी है, वैसे ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द से भरा हुआ है, किन्तु उसका विश्वास करके अन्तर्मुख होकर उसमें एकाग्र हो तो उस ज्ञान-आनन्द का स्वाद अनुभव में आये।'

आत्मा से भिन्न बाह्यविषयों में कहीं आत्मा का आनन्द नहीं है। धर्मात्मा, निज आत्मा के अतिरिक्त बाहर में कहीं-स्वप्न में भी आनन्द नहीं मानता। ऐसा अन्तरात्मा, अपने अन्तरस्वरूप में एकाग्र होकर, परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द प्रगट करके, स्वयं ही परमात्मा होता है।

परमात्मा की नामवाचक नामावली दर्शाते हुए कहते हैं :—

शुद्ध, स्पर्श-मल बिन प्रभू, अव्यय अज परमात्म।
ईश्वर निज उत्कृष्ट वह, परमेष्ठी परमात्म॥ ६॥

***अन्वयार्थ :*-(निर्मलः)** निर्मल — मलरहित, **(केवल)** केवल — शरीरादि परद्रव्यों के

निर्मलः कर्ममलरहितः। केवलः शरीरादीनां सम्बन्धरहितः। शुद्धः द्रव्यभाव-कर्मणामभावात् परमविशुद्धिसमन्वितः। विविक्तः शरीरकर्मादिभिरसंस्पृष्टः। प्रभुरिन्द्रादिनां स्वामी। अव्ययो लब्धानंतचतुष्टयस्वरूपादप्रच्युतः। परमेष्ठी-परमे इन्द्रादिवंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी, स्थानशीलः। परात्मा संसारिजीवेभ्यः उत्कृष्ट आत्मा। इति शब्दः प्रकारार्थे एवं प्रकारा ये शब्दास्ते परमात्मनो वाचकाः परमात्मेत्यादिना तानेव दर्शयति। परमात्मा सकल प्राणिभ्यः उत्तम आत्मा। ईश्वरः इन्द्राद्यसम्भविना अन्तरङ्ग-बहिरङ्गेण परमैश्वर्येण सदैव सम्पन्नः जिनः सकल-कर्मोन्मेलकः॥ ६॥

सम्बन्ध से रहित, **(शुद्धः)** शुद्ध — रागादि से अत्यन्त भिन्न हो गये होने से परमविशुद्धिवाले, **(विविक्त)** विविक्त — शरीर और कर्मादिक के स्पर्श से रहित, **(प्रभुः)** प्रभु — इन्द्रादिक के स्वामी, **(अव्यय)** अव्यय — अपने अनन्त चतुष्टयरूप स्वभाव से कभी च्युत नहीं होनेवाले, **(परमेष्ठी)** परमेष्ठी — इन्द्रादिक से वन्द्य परमपद में स्थित, **(परात्मा)** परात्मा — संसारी जीवों से उत्कृष्ट आत्मा, **(ईश्वर)** ईश्वर — अन्य जीवों में असम्भव, ऐसी विभूति के धारक, अर्थात् अन्तरङ्ग अनन्त चतुष्टय और बाह्य समवसरणादि विभूतियों से युक्त, **(जिनः)** जिन — ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्मशत्रुओं को जीतनेवाले, **(इति परमात्मा)** ये परमात्मा के नाम हैं।

टीका :- **निर्मल,** अर्थात् कर्ममलरहित; **केवल,** अर्थात् शरीरादि के सम्बन्धरहित; **शुद्ध,** अर्थात् द्रव्यकर्म-भावकर्म के अभाव के कारण से परमविशुद्धियुक्त; **विविक्त,** अर्थात् शरीर-कर्मादि से नहीं स्पर्शित; **प्रभु,** अर्थात् इन्द्रादि के स्वामी; **अव्यय,** अर्थात् प्राप्त अनन्त चतुष्टयमय स्वरूप से च्युत (भ्रष्ट) नहीं होनेवाले; **परमेष्ठी,** अर्थात् परम /इन्द्रादि से वन्द्य — ऐसा बड़ा पद, उसमें जो रहते हैं, उस स्थानशील परमेष्ठी; **परात्मा,** अर्थात् संसारी जीवों से उत्कृष्ट आत्मा — इस प्रकार के जो शब्द हैं, वे परमात्मा के वाचक हैं।

'**परमात्मा**' इत्यादि से उन्हें ही दर्शाया है। परमात्मा, अर्थात् सर्व प्राणियों में उत्तम आत्मा; **ईश्वर,** अर्थात् इन्द्रादिक को असम्भवित — ऐसे अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग परम ऐश्वर्य से सदा सम्पन्न; **जिन,** अर्थात् सर्व कर्मों का मूल में से नाश करनेवाले (इत्यादि परमात्मा के अनन्त नाम हैं) ॥६॥

भावार्थ :- *निर्मल, केवल, शुद्ध, विविक्त, प्रभु, अव्यय, परमेष्ठी, परात्मा, ईश्वर, जिन इत्यादि नाम परमात्मा के वाचक हैं।*

इदानीं बहिरात्मनो देहस्यात्मत्वेनाध्यवसाये कारणमुपदर्शयन्नाह -

***बहिरात्मेन्द्रिय-द्वारै-रात्मज्ञान-पराङ्मुखः।**
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवश्यति॥ ७॥

ये नाम, परमात्मा के स्वरूप को बतलाते हैं। उस स्वरूप को पहिचानकर, अपने आत्मा को भी वैसे स्वरूप से चिन्तवन करना, यह परमात्मा होने का उपाय है। ***जीव को अपने आत्मा में शक्तिरूप से स्थित गुणों का भान हो; इसलिए भिन्न-भिन्न नामों से परमात्मा की पहचान करायी गयी है।***

आत्मा, चैतन्यादि अनन्त गुणों का पिण्ड है। ये गुण, भगवान को पूर्णरूप से विकसित हो गये हैं; इस कारण इन गुणों की अपेक्षा से वे अनेक नामों से पहिचाने जाते हैं।

परमात्मा को गुण अपेक्षा से जितने नाम लागू पड़ते हैं, वे सब नाम इस आत्मा को भी स्वभाव अपेक्षा से लागू पड़ते हैं क्योंकि दोनों आत्माएँ, शक्ति अपेक्षा से समान हैं; उनमें कोई भेद (अन्तर) नहीं हैं। जो परमात्मा के गुणों को यथार्थरूप से पहिचानता है, वह अपने आत्मा के स्वरूप को जाने बिना नहीं रहता।[१] जितने गुण परमात्मा में हैं, उतने ही गुण प्रत्येक आत्मा में हैं। निज त्रिकाली आत्मा के सन्मुख होकर, उनका परिपूर्ण विकास करके, यह आत्मा भी परमात्मा हो सकता है।

अब, बहिरात्मा को देह में आत्मबुद्धिरूप मिथ्यामान्यता किस कारण से होती है, वह बतलाते हुए कहते हैं :—

आत्मज्ञान से हो विमुख, इन्द्रिय से बहिरात्म।
आत्मा को तनमय समझ, तन ही गिने निजात्म॥ ७॥

अन्वयार्थ :- **(बहिरात्मा)** बहिरात्मा, **(इन्द्रियद्वारैः)** इन्द्रिय द्वारों से **(स्फुरित)**

* **बहित्थे फुरियमणो इंद्रियदारेण णियसरूवचओ। णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ॥**

अर्थात्, मूढ़दृष्टि अज्ञानी मोही मिथ्यादृष्टि है वह बाह्य पदार्थ - धन, धान्य, कुटुम्ब आदि इष्ट पदार्थों में स्फुरित (-तत्पर) मनवाला है तथा इन्द्रियों के द्वार से अपने स्वरूप से च्युत है और इन्द्रियों को ही आत्मा जानता है, ऐसा होता हुआ अपने देह को ही आत्मा जानता है-निश्चय करता है, इस प्रकार मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। *(- श्री मोक्षप्राभृत, गाथा-८, कुन्दकुन्दाचार्यः)*

१. श्री प्रवचनसार, गाथा-८०

इन्द्रियद्वारैरन्द्रियमुखैः कृत्वा स्फुरितो बहिरर्थग्रहणे व्यापृतः सन् बहिरात्मा मूढात्मा। आत्मज्ञानपराङ्मुखो जीवस्वरूप-ज्ञानाद्बहिर्भूतो भवति। तथाभूतश्च सन्नसौ किं करोति? स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति आत्मीय शरीरमेवाहमिति प्रतिपद्यते ॥७॥

बाह्यपदार्थों को ही ग्रहण करने में प्रवृत्त होने से, **(आत्मज्ञान पराङ्गमुख)** आत्मज्ञान से पराङ्गमुख–वञ्चित होता है; इससे वह **(आत्मनः देहं)** अपने शरीर को, **(आत्मत्वेन अध्यवस्यति)** मिथ्या अभिप्रायपूर्वक, आत्मारूप समझता है।

टीका :– इन्द्रियोंरूप द्वारों से, अर्थात् इन्द्रियोंरूप मुख से बाहर के पदार्थों के ग्रहण में रुका हुआ होने से, वह बहिरात्मा–मूढ़ात्मा है। वह आत्मज्ञान से पराङ्गमुख, अर्थात् जीवस्वरूप के ज्ञान से बहिर्भूत है। वैसा होता हुआ वह (बहिरात्मा) क्या करता है? अपनी देह को आत्मारूप मानता है, अर्थात् अपना शरीर, वही 'मैं हूँ' — ऐसी मिथ्या मान्यता करता है ॥७॥

***भावार्थ :**– बहिरात्मा, बाह्य इन्द्रियों द्वारा जिन मूर्तिक पदार्थों का ग्रहण करता है, उन्हें मोहवश अपना मानता है। उसको अन्तर के आत्मतत्त्व का कुछ भी ज्ञान नहीं; इस कारण वह अपने शरीर को ही आत्मा समझता है, अर्थात् शरीर, मन, वाणी की क्रिया जो जड़ की क्रिया है, उन्हें मैं कर सकता हूँ और मैं स्वयं उनका स्वामी हूँ — ऐसा मानता है।*

जीव, त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है। उसको बहिरात्मा अज्ञानवश नहीं जानता और बाह्य इन्द्रियगोचर पदार्थ, जो मात्र ज्ञेयरूप हैं, उनमें इष्ट–अनिष्ट की कल्पना करके, अपने को सुखी–दुःखी, धनवान–निर्धन, सुरूप–कुरूप, राजा–रंक इत्यादि होना मानता है।

***विशेष स्पष्टीकरण** –*

मिथ्याअभिप्रायवश अज्ञानी मानता है कि 'शरीर उत्पन्न होने से मेरा जन्म हुआ; शरीर का नाश होने से मैं मर जाऊँगा; शरीर की उष्ण अवस्था होने पर, मुझे बुखार आया; शरीर की भूख–प्यास आदिरूप अवस्था होने पर, मुझे भूख–प्यास लगी; शरीर के कटने से मैं कट गया' — इस प्रकार वह अजीव की अवस्था को, अपनी (आत्मा की) अवस्था मानता है।

तच्च प्रतिपद्यमानो मनुष्यादि चतुर्गतिसम्बन्धिशरीराभेदेन प्रतिपद्यते तत्र -

***नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।**
तिर्यञ्च तिर्यगङ्गस्थं सुरांगस्थं सुरं तथा॥ ८॥

'........अपने को आपरूप जानकर, पर का अंश भी अपने में नहीं मिलाना और अपना अंश भी पर में नहीं मिलाना — ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता। जैसे, अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्यायबुद्धि से जानपने में व वर्णादि में अहंबुद्धि धारण करते हैं; उसी प्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादि में और शरीराश्रित उपदेश-उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है।..... तथा पर्याय में जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन्हें दोनों द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न हुई मानता है; किन्तु यह जीव की क्रिया है, उसका पुद्गल निमित्त है; यह पुद्गल की क्रिया है, उसका जीव निमित्त है — ऐसा भिन्न-भिन्न भाव भासित नहीं होता।[१] '

'जिसकी मति, अज्ञान से मोहित है और जो मोह, राग, द्वेष आदि बहुत भावों से सहित है, वह जीव ऐसा कहता है (मानता है) कि ये शरीरादि बद्ध और धनादि अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरे हैं।[२] ' तथा

शरीरादि बाह्यपदार्थों में एकताबुद्धि करने से अज्ञानी को भ्रम होता है कि रस, रूप, गन्ध, स्पर्श और शब्द का जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रियों से होता है तथा घट-पटादि का जो ज्ञान होता है, वह बाह्यपदार्थों से होता है, किन्तु उसे ज्ञात नहीं है कि जीव को जो ज्ञान होता है, वह अपनी ज्ञानगुणरूप उपादानशक्ति से होता है। इन्द्रियाँ और घट-पटादि पदार्थ तो जड़ हैं, उनसे ज्ञान नहीं होता; ज्ञान होने में वे तो निमित्तमात्र हैं।

---

* **सुरं त्रिदशपर्यायैस्तथानरम्। तिर्यञ्च च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम्॥३२-१३॥**
वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तन्न पुनस्तथा। किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्य तद्रूपं परिकीर्तितम्॥३२-१४॥

अर्थात्, अविद्या (मिथ्याज्ञान) से परिश्रान्त (खेदखिन्न) मूढ बहिरात्मा देव के पर्यायों सहित आत्मा को तो देव मानता है और मनुष्यपर्यायों सहित अपने को मनुष्य मानता है, तथा तिर्यञ्च के अङ्ग में रहते हुए को तिर्यञ्च और नारकी के शरीर में रहते हुए को नारकी मानता है, सो भ्रम है; क्योंकि पर्याय का रूप आत्मा का रूप नहीं है। आत्मा का रूप तो अमूर्तिक हैं, स्वसंवेद्य है अर्थात् अपने द्वारा ही अपने को जानneयोग्य है। *(श्री ज्ञानार्णव, शुभचन्द्राचार्यः)*

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७, पृष्ठ-२२५

२. श्री समयसार, गाथा २३

नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥ ९ ॥

नरस्य देहो नरदेहः तत्र तिष्ठतीति नरदेहस्थस्तमात्मानं नरं मन्यते। कोऽसौ ? अविद्वान् बहिरात्मा। तिर्यंचमात्मानं मन्यते। कथंभूतं ? तिर्यगङ्गस्थं तिरश्चामङ्गे तिर्यगङ्गं

इस प्रकार बहिरात्मा अपने ज्ञानात्मकस्वभाव को भूलकर, शरीरादि परपदार्थों से अपना अस्तित्व मानता है, अर्थात् वह शरीरादि परपदार्थों में ही आत्मबुद्धि करता है।

....और उसका प्रतिपादन करके मनुष्यादि चतुर्गति सम्बन्धी चार भेद से जीवभेद का उसमें प्रतिपादन करते हैं :—

तिर्यक में तिर्यञ्च गिन, नर तन में नर मान।
देव देह को देव लख, करे मूढ़ पहिचान॥ ८ ॥
नारक तन में नारकी, पर नहीं यह चैतन्य।
है अनन्त धी शक्तियुत, अचल स्वानुभवगम्य॥ ९ ॥

अन्वयार्थ :-(**अविद्वान्**) मूढ़ बहिरात्मा, (**नरदेहस्थं**) मनुष्यदेह में स्थित (**आत्मानं**) आत्मा को, (**नरम्**) मनुष्य; (**तिर्यङ्गस्थं**) तिर्यञ्चशरीर में स्थित आत्मा को, (**तिर्यंचं**) तिर्यञ्च, (**सुराङ्गस्थं**) देव के शरीर में स्थित आत्मा को, (**सुरं**) देव (**तथा**) और (**नारकाङ्गस्थं**) नारकी के शरीर में स्थित आत्मा को, (**नारकं**) नारकी (**मन्यते**) मानता है, किन्तु (**तत्त्वतः**) वस्तुतः (**स्वयं**) स्वयं आत्मा (**तथा न**) वैसा नहीं है, अर्थात् वह मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकीरूप नहीं; (**तत्त्वस्तु**) किन्तु वास्तविकरूप से यह आत्मा, (**अनंतानंतधी-शक्तिः**) अनन्तानन्त ज्ञान और अनन्तानन्त शक्ति (वीर्य) रूप है, (**स्व - संवेद्य**) स्वानुभवगम्य है-अपने अनुभवगोचर है और (**अचल स्थितिः**) अपने स्वरूप में सदानिश्चल-स्थिर रहनेवाला है।

टीका :- नर का देह, वह नरदेह। उसमें रहता है, इस कारण नर देहस्थ। वह (नर के देह में रहनेवाला) आत्मा को, नर मानता है। वह कौन (ऐसा मानता है ?) अविद्वान-बहिरात्मा (ऐसा मानता है) तिर्यञ्च को, आत्मा मानता है। कैसे (तिर्यञ्च) को ? तिर्यञ्चों के शरीर में रहनेवाले। तिर्यञ्च का शरीर, वह तिर्यञ्चशरीर-उसमें रहता है, इस कारण

तत्र तिष्ठतीति तिर्यगङ्गस्थस्तं। सुराङ्गस्थं आत्मानं सुरं तथा मन्यते॥८॥

नारकमात्मानं मन्यते। किंविशिष्टं? नारकाङ्गस्थं। न स्वयं तथा नरादिरूप आत्मा स्वयं कर्मोपाधिमंतरेण न भवति। कथं? तत्त्वतः परमार्थतो न भवति। व्यवहारेण तु यदा भवति तदा भवतु। कर्मोपाधिकृता हि जीवस्य मनुष्यादि-पर्यायास्तन्निवृत्तौ निवर्तमानत्वात् न पुनर्वास्तवा इत्यर्थः। परमार्थतस्तर्हि कीदृशोऽसा-वित्याह-अनन्तानन्तधीशक्तिः धीश्च शक्तिश्च धीशक्ती अनन्तानन्ते धी शक्ती यस्य। तथाभूतोऽसौ कुतः परिच्छेद्य इत्याह-स्वसंवेद्यो ''निरुपाधिकं हि रूपं वस्तुनः स्वभावोऽ-भिधीयते''। कर्माद्यपाये चानन्तानन्तधीशक्तिपरिणत आत्मा स्वसंवेदनेन

तिर्यञ्चस्थ-उसे (आत्मा मानता है)। इसी प्रकार देवों के शरीर में रहनेवाले (आत्मा) को, देव मानता है॥८॥

नारक को आत्मा मानता है। कैसे (नारक को)? नारकी के शरीर में रहनेवाले को। आत्मा स्वयं नरादिरूप नहीं; कर्मोपाधि बिना वह स्वयं होता नहीं। किस प्रकार? तत्त्वतः, अर्थात् परमार्थ से वह (वैसा) नहीं, किन्तु व्यवहार से हो तो भले हो। जीव की मनुष्यादि पर्याय कर्मोपाधि से हुई हैं। उस (कर्मोंपाधि) के निवृत्त होने पर / मिटने पर, वे (पर्यायें) निवृत्त होती होने से, वास्तव में (वे पर्यायें, जीव की) नहीं — ऐसा अर्थ है।

तब परमार्थ से वह (आत्मा) कैसा है? वह कहते हैं। वह अनन्तानन्तधीशक्ति, अर्थात् अनन्तानन्त ज्ञान और शक्तिवाला है। वैसा वह किस प्रकार जाना जा सकता है — (अनुभव किया जा सकता है)? वह कहते हैं। वह स्वसंवेद्य है। निरुपाधिकरूप ही वस्तु का स्वभाव कहलाता है। कर्मादिक का विनाश होने पर, अनन्तानन्त ज्ञान-शक्तिरूप से परिणत आत्मा, स्वसंवेदन में ही वेदन किया जा सकता है। वह संसार अवस्था में कर्मोपाधि से निर्मित होने से, उससे विपरीत परिणति का अनुभव होता है।

वैसा स्वसंवेद्य (आत्मा) भले हो, किन्तु वह कितने काल? सर्वदा तो नहीं होता, कारण कि बाद में उसके रूप का नाश होता है। (— ऐसी शङ्का का परिहार करते हुए) कहते हैं कि उसकी (आत्मा की) स्थिति अचल है, क्योंकि अनन्तानन्तधीशक्ति के स्वभाव के कारण, वह अचल स्थितिवाला है।

वेद्यः। तद्विपरीतपरिणत्यनुभवस्य संसारावस्थायां कर्मोपाधिनिर्मितत्वात्। अस्तु नाम तथा स्वसंवेद्यः कियत्काल-मसौ न तु सर्वदा पश्चात् तद्रूपविनाशादित्याहअचलस्थितिः अनंतानंतधीशक्तिस्वभावेनाचला स्थितिर्यस्य सः। यैः पुन-र्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः ॥९ ॥

जो योग और सांख्यमतवालों ने मुक्ति के विषय में आत्मा की, उससे (मुक्ति से) प्रच्युति (पतन) सम्भव माना है, उसके सम्बन्ध में (खण्डनस्वरूप) प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र में मोक्षविचार प्रसङ्ग में विस्तार से कहा गया है ॥९ ॥

भावार्थ : *- अज्ञानी जीव, जिन नर-नारकादि पर्यायों को धारण करता है, उन पर्यायोंरूप अपने को मानता है। जीव, वास्तव में उन पर्यायोंरूप नहीं है, किन्तु वह स्वानुभवगम्य, शाश्वत और अनन्तानन्त ज्ञान-वीर्यमय है। मुक्त अवस्था में (मोक्ष में), उसकी स्थिति अचल है; वहाँ से (मुक्ति से) उसका कभी भी पतन नहीं होता, अर्थात् जीव, मुक्त होने के पश्चात् फिर कभी भी संसार में नहीं आता। योग और सांख्यमतवालों की मान्यता इससे भिन्न है।*

विशेष स्पष्टीकरण *-*

बहिरात्मा, नर-नारकादि पर्यायों को ही अपनी सच्ची अवस्था मानता है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप उनसे भिन्न, कर्मोपाधिरहित, शुद्ध, चैतन्यमय, टंकोत्कीर्ण, एक, ज्ञाता-दृष्टा है, अभेद्य है, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त वीर्य से युक्त है और अचल स्थितिरूप है — ऐसा भेदज्ञान (विवेकज्ञान) उसको नहीं होता; इस कारण वह संसार के परपदार्थों में तथा मनुष्यादि पर्यायों में आत्मबुद्धि करता है — उन्हें आत्मा मानता है।

जीव, जिस-जिस गति में जाता है, उस-उस गति के अनुकूल भिन्न-भिन्न स्वांग धारण करता है। वे स्वांग, अचेतन हैं - जड़ हैं और क्षणिक हैं। उन स्वांगों का धारण करनेवाला जीव, उनसे भिन्न शाश्वत ज्ञानस्वरूप चेतनद्रव्य है। अज्ञानी को अपने वास्तविक स्वरूप का भान नहीं; इस कारण उस बाह्य स्वांग को ही जीव मानकर, तदनुसार वर्तन करता है।

'अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों का धारक, अनादि-निधन, वस्तु आप (आत्मा) है तथा मूर्तिक पुद्‌गलद्रव्यों का पिण्ड, प्रसिद्ध ज्ञानादि को से रहित, नवीन जिनका

स्वदेहे एवमध्यसायं कुर्वाणो बहिरात्मा परदेहे कथंभूतं करोतीत्याह -

***स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।**
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति॥ १०॥

संयोग हुआ है, ऐसे शरीरादि पुद्‌गल, अपने से पर है; इन दोनों के संयोगरूप नाना प्रकार की मनुष्य-तिर्यञ्चादि पर्यायें होती हैं — यह मूढ़ जीव, उन पर्यायों में अहंबुद्धि धारण कर रहा है; स्व-पर का भेद नहीं कर सकता। जो पर्यायें प्राप्त की हों, उसी में अपनापन मानता है;

तथा उस पर्याय में भी जो ज्ञानादि गुण हैं, वे तो अपने गुण हैं और रागादि हैं, वे अपने को कर्मनिमित्त से औपाधिकभाव हुए हैं तथा वर्णादिक हैं, वे अपने गुण नहीं, किन्तु शरीरादि पुद्‌गल के गुण हैं; शरीरादि में भी वर्णादि का व परमाणुओं का नाना प्रकार पलटना होता है, वे सर्व पुद्‌गल की अवस्थाएँ हैं, किन्तु उन सबको यह जीव अपना स्वरूप जानता है। उसको स्वभाव-परभाव का विवेक नहीं हो सकता।' **(मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३८)**

स्वदेह में ऐसा अध्यवसाय करनेवाला बहिरात्मा, परदेह में कैसा अध्यवसाय करता है ? — वह कहते हैं :—

जैसे निज की देह में, आत्म-कल्पना होय।
वैसे ही पर-देह में, चेतनता संजोय॥१०॥

अन्वयार्थ :-**(मूढः)** अज्ञानी बहिरात्मा, **(परात्माधिष्ठितं)** अन्य के आत्मा के साथ रहनेवाले, **(अचेतनं)** अचेतन—चेतनारहित, **(परदेहं)** दूसरे के शरीर को, **(स्वदेह सदृशं)** अपने शरीर समान **(दृष्ट्वा)** देखकर, **(परत्वेन)** अन्य के आत्मारूप से, **(अध्यवस्यति)** मानता है।

* **णियदेहसरिच्छं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण। अच्चेयणं पि गहिय झाइज्जइ परमभावेण॥**

अर्थात्, मिथ्यादृष्टि पुरुष अपनी देह के समान दूसरे की देह को देख करके यह देह अचेतन है तो भी मिथ्याभाव से आत्मभाव द्वारा बड़ा यत्न करके पर की आत्मा ध्याता है, अर्थात् समझता है। *(-श्री मोक्षप्राभृत, गाथा ९, कुन्दकुन्दाचार्यः)*

स्वशरीरमिवान्विध्य पराङ्गं च्युतचेतनम्। परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्यवस्यति॥

अर्थात्, तथा वही बहिरात्मा अज्ञानी जिस प्रकार अपने शरीर को आत्मा जानता है, उसी प्रकार पर के अचेतन देह को देखकर पर का आत्मा मानता है अर्थात् उसको पर की बुद्धि से निश्चय करता है। *(-श्री ज्ञानार्णव, गाथा ३२-१५, शुभचन्द्रः)*

व्यापारव्याहाराकारादिना स्वदेहसदृशं परदेहं दृष्ट्वा। कथम्भूतं ? परात्मनाऽधिष्ठितं कर्मवशात्स्वीकृतं अचेतनं चेतनेन-संगतं मूढो बहिरात्मा परत्वेन परात्मत्वेन अध्यवस्यति॥१०॥

एवंविधाध्यवसायात्किं भवतीत्याह -

***स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।**
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः॥ ११॥

टीका :- व्यापार, व्याहार (वाणी-वचन) आकारादि द्वारा परदेह को अपने देह समान देखकर; कैसा (देखकर) ? कर्मवशात् अन्य के आत्मा से अधिष्ठित-स्वीकृत अचेतन (पर के देह को) चेतनायुक्त देखकर, बहिरात्मा उसे (देह को) परपने रूप से, अर्थात् पर के आत्मारूप मानता है॥१०॥

भावार्थ :- *जिस प्रकार बहिरात्मा अपने शरीर को, अपना आत्मा मानता है; उसी प्रकार अन्य के (स्त्री, पुत्र, मित्रादिक के) अचेतन शरीर को, उनका आत्मा मानता है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे, अपने शरीर का नाश होने पर, बहिरात्मा अपना नाश समझता है; वैसे ही स्त्री, पुत्र, मित्रादिक के शरीर का नाश होने पर, उनके आत्मा का नाश समझता है; इस प्रकार वह अपने शरीर में आत्मबुद्धि-आत्मकल्पना करके दु:खी होता है और अन्य भी शरीर की प्रतिकूलता के कारण दु:खी होते हैं — ऐसा मानता है।

इस प्रकार के अध्यवसाय से क्या होता है ? वह कहते हैं :—

कहै देह को आत्मा, नहीं स्व-पर पहचान।
विभ्रमवश तन में करे, सुत-तियादि का ज्ञान॥ ११॥

अन्वयार्थ :- **(अविदितात्मनां पुंसा)** आत्मा के स्वरूप से अज्ञात पुरुषों को, **(देहेषु)** शरीरों में, **(स्वपराध्यवसायेन)** अपनी और पर की आत्मबुद्धि के कारण

* **सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं। सुयदाराईविसए मणुयाणं बड्ढए मोहो॥**
अर्थात्, इस प्रकार देह में स्व-पर के अध्यवसाय (निश्चय) के द्वारा मनुष्यों के सुत, दारादिक जीवों में मोह प्रवर्तता है कैसे हैं - मनुष्य जिन ने पदार्थ का स्वरूप (अर्थात् आत्मा) नहीं जाना है ऐसे हैं।
(श्री मोक्षप्राभृत, गाथा १०, कुन्दकुन्दाचार्य:)

विभ्रमो विपर्यासः पुंसां वर्तते। किं विशिष्टानां ? अविदि-तात्मनां अपरिज्ञातात्म-स्वरूपाणां। केन कृत्वाऽसौ वर्तते ? स्व-पराध्यवसायेन। क्व ? देहेषु। कथम्भूतो विभ्रमः ? पुत्रभार्यादि-गोचरः। परमार्थतोऽनात्मीयमनुपकारकमपि पुत्रभार्याधनधान्या-दिकमात्मीयमुषकारकं च मन्यते। तत्सम्पत्तौ संतोषं तद्वियोगे च महासन्ताप-मात्मवधादिकं च करोति॥ ११ ॥

से, **(पुत्रभार्यादिगोचर)** पुत्र-स्त्री आदि के विषय में, **(विभ्रम वर्तते)** विभ्रम वर्तता है।

टीका :- पुरुषों को विभ्रम, अर्थात् विपर्यास (मिथ्याज्ञान) वर्तता है। कैसे पुरुषों को ? आत्मा से अनजान-आत्मस्वरूप को नहीं जाननेवाले पुरुषों को। किस कारण से वह (विभ्रम) वर्तता है ? स्व-पर के अध्यवसाय से। (विभ्रम) कहाँ होता है ? शरीर के विषय में। कैसा विभ्रम होता है ? पुत्र-भार्यादिक विषयक (विभ्रम होता है)। परमार्थ से (वास्तव में) पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि आत्मीय (अपने) उपकारक नहीं होने पर भी, वह (विभ्रमित पुरुष) उन्हें आत्मीय तथा उपकारक मानता है, उनकी सम्पत्ति में (आबादी में) वह संतोष तथा उनके वियोग में महासंताप और आत्मबधादिक करता है॥११ ॥

भावार्थ :- *जिन पुरुषों को आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, वे अपने शरीर में, अपने आत्मा की और पर के शरीर में, पर के आत्मा की कल्पना करके, स्त्री-पुत्रादि के विषय में विभ्रान्त रहते हैं, अर्थात् अपने शरीर के साथ, स्त्री-पुत्रादि के शरीर सम्बन्ध को ही अपने आत्मा का सम्बन्ध मानते हैं।*

बहिरात्मा, स्त्री-पुत्र-मित्रादि अनात्मीय, अर्थात् पर होने पर भी, उन्हें आत्मीय मानता है और अपने को अनुपकारक होने पर भी, उन्हें उपकारी मानकर उनकी रक्षा का प्रयत्न करता है; उनके संयोगादि से सुखी होता है और उनके वियोगादि से महासंताप मानता है तथा आत्मबध भी करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

'........तथा शरीर का संयोग होने और छूटने की अपेक्षा जन्म-मरण होता है, उसे अपना जन्म-मरण मानकर मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा — ऐसा मानता है।

तथा शरीर की अपेक्षा अन्य वस्तुओं से नाता मानता है। जिसके द्वारा शरीर की

एवंविधविभ्रमाच्च किं भवतीत्याह -

***अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।**
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते॥ १२॥

उत्पत्ति हुई, उन्हें अपने माता-पिता मानता है; जो शरीर को रमण कराये, उसे अपनी रमणी मानता है; जो शरीर से उत्पन्न हुआ, उसे अपना पुत्र मानता है; जो शरीर को उपकारी हो, उसे अपना मित्र मानता है; जो शरीर का बुरा करे, उसे शत्रु मानता है — इत्यादिरूप मान्यता होती है। अधिक क्या कहें? जिस-तिस प्रकार से अपने को और शरीर को एक ही मानता है।[१] '

'तथा जैसे जहाँ वह पागल ठहरा था, वहाँ मनुष्य, घोड़ा, धनादिक कहीं से आकर ठहरे, वह पागल उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हीं के अधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमित होते हैं; वह पागल उन्हें अपने आधीन मानता है, उनकी पराधीनक्रिया हो, तब खेद-खिन्न होता है। उसी प्रकार यह जीव जहाँ पर्याय धारण करता है, वहाँ स्वयमेव पुत्र, घोड़ा धनादिक कहीं से आकर प्राप्त हुए, यह जीव उन्हें अपना मानता है। वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं, यह जीव उन्हें अपने आधीन मानता है और उनकी पराधीनक्रिया हो तब खेद-खिन्न होता है।[२] '

इस प्रकार के विकल्प से क्या होता है? वह कहते हैं :—

इस भ्रम से अज्ञानमय, जमते दृढ़ संस्कार।
यों मोही भव-भव करें, तन में निज निर्धार॥ १२॥

अन्वयार्थ :- **(तस्मात्)** इस विभ्रम से, **(अविद्यासंज्ञितः)** अविद्या नाम का

* **मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो। मोहोदएण पुणरवि अंगं सम्मण्णए मणुओ॥**

अर्थात्, यह मनुष्य मोहकर्म के उदय से (उदय के वश होकर) मिथ्याज्ञान के द्वारा मिथ्याभाव से भाया हुआ फिर आगामी जन्म में इस अंग (देह) को अच्छा समझकर चाहता है।

(श्री मोक्षप्राभृत, गाथा-११, कुन्दकुन्दाचार्यः)

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ-८१

२. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, तृतीय अध्याय, पृष्ठ-५१

तस्माद्विभ्रमाद् बहिरात्मनि संस्कारो वासना दृढोऽविचलो जायते। किन्नामा? अविद्यासंज्ञितः अविद्यः संज्ञाऽस्य संजातेति ''तारकादिभ्य इतच्।'' येन संस्कारेण कृत्वा लोकोऽविवेकि-जनः। अंगमेव शरीरमेव। स्वं आत्मानं। पुनरपि जन्मान्तरेऽपि। अभिमन्यते ॥१२ ॥

एवमभिमन्यमानश्चासौ किं करोतीत्याह -

(संस्कारः) संस्कार, **(दृढ़ः)** दृढ़-मजबूत **(जायते)** होता है, **(येन)** जिस कारण से **(लोकः)** अज्ञानी जीव, **(पुनः अपि)** जन्मान्तर में भी **(अंगम् एव)** शरीर को ही **(स्वं अभिमन्यते)** आत्मा मानता है।

टीका :- उस विभ्रम से बहिरात्मा में संस्कार, अर्थात् वासना दृढ़ — अविचल होती है। किस नाम का (संस्कार) ? अविद्या नाम का (संस्कार), जिसकी अविद्या संज्ञा है वह; जिस संस्कार के कारण अविवेकी (अज्ञानी) जन, अंग को ही, अर्थात् शरीर को ही फिर से भी, अर्थात् अन्य जन्म में भी अपना आत्मा मानता है ॥१२ ॥

भावार्थ :- *इस जीव के अज्ञानजनित अविद्या संस्कार अनादि काल से हैं। स्त्री-पुत्रादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करने से ये संस्कार मजबूत होते हैं और इनके कारण, अन्य जन्म में भी जीव, शरीर को ही आत्मा मानता है।*

अनादि अज्ञान के कारण यह जीव, जो पर्याय (शरीर) उसे प्राप्त होते हैं, उसे अपना आत्मा समझ लेता है और उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार, जन्म-जन्मान्तरों में भी बना रहने से दृढ़ होता जाता है। जैसे, रस्सी के घर्षण से कुएँ के पत्थर पर निशान अधिक से अधिक गहरा होता जाता है; वैसे ही अज्ञानी जीव में अविद्या के संस्कार भी अधिक से अधिक गहरे उतरते जाते हैं।

अविद्या के संस्कारों से प्रेरित यह जीव, शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करता है; स्वयं को पर का कर्ता-भोक्ता मानता है; पर के प्रति अहंकार-ममकारबुद्धि और एकत्वबुद्धि करता है; इस कारण से इसको राग-द्वेष होते हैं और राग-द्वेष से इसका संसारचक्र चलता ही रहता है।

इस प्रकार मानकर वह क्या करता है? यह कहते हैं :—

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं॥ १३॥

देहे स्वबुद्धिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा किं करोति? आत्मानं युनक्ति सम्बद्धं करोति देहिनं दीर्घसंसारिणं करोतीत्यर्थः केन? एतेन देहेन। निश्चयात् परमार्थेन। स्वात्मन्येव जीवस्वरूपे एव आत्मधीरन्तरात्मा। निश्चयाद्वियोजयति असम्बद्धं करोति॥१३॥

देहबुद्धिजन आत्म का, तन से करें सम्बन्ध।
आत्मबुद्धि नर स्वात्म का, तन से तजे सम्बन्ध॥ १३॥

अन्वयार्थ :–(**देहे स्वबुद्धि**) शरीर में आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा, (**निश्चयात्**) निश्चय से (**आत्मानं**) अपने आत्मा को (**एतेन**) उसके साथ / शरीर के साथ (**युनक्ति**) जोड़ता है / सम्बन्ध करता है, अर्थात् दोनों को एकरूप मानता है, परन्तु (**स्वात्मनि एव आत्मधीः**) अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि करनेवाला अन्तरात्मा, (**देहिनं**) अपने आत्मा को (**तस्मात्**) उससे / शरीर से (**वियोजयति**) पृथक् / भिन्न करता है।

टीका :– शरीर में[1] स्वबुद्धि–आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा क्या करता है? वह (अपने) आत्मा को, (शरीर के साथ) जोड़ता है–(उसके साथ) सम्बन्ध करता है; उसको दीर्घ संसारी करता है — ऐसा अर्थ है। किसके साथ (जोड़ता है)? निश्चय से, अर्थात् निश्चित उस शरीर के साथ (जोड़ता है), किन्तु आत्मा में ही–जीवस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला अन्तरात्मा, निश्चय से उसे (आत्मा को) उससे (शरीर से) पृथक् करता है–(शरीर के साथ) असम्बद्ध करता है॥१३॥

भावार्थ :– *अज्ञानी बहिरात्मा, अपने शरीर में स्वबुद्धि–आत्मबुद्धि करता है, अर्थात् शरीर और आत्मा को एकरूप मानता है, जबकि ज्ञानी अन्तरात्मा अपने आत्मा को, शरीर से भिन्न समझता है।*

'यह जीव, उस शरीर को अपना अंग जानकर, अपने को और शरीर को एकरूप मानता

---

१. पाटन जैन भण्डार की प्रति के आधार से समाधिशतक की टीका अनुवाद में श्रीयुत मणिलाल नमुभाई त्रिवेदी ने निम्न अनुसार लिखा है — 'बहिरात्मा को देह में ही आत्मबुद्धि होती है और वह आत्मा को परमानन्द न पाने देकर देह में ही बाँधकर रखता है, अर्थात् दीर्घ संसार ताप में डाल देता है।'

देहेष्वात्मानं योजयतश्च बहिरात्मनो दुर्विलसितोपदर्शनपूर्वकमा-चार्योऽनुशयं कुर्वन्नाह -

है, किन्तु शरीर तो कर्मोदय के आधीन कभी कृश होता है, कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है और कभी नवीन उत्पन्न होता है — इत्यादि चरित्र होता है। इस प्रकार उसकी पराधीनक्रिया होने पर भी जीव उसको अपने आधीन मानकर, खेद-खिन्न होता है...... [१]'

मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, देहाभ्यास से शरीर को ही आत्मा मानता होने से उसे नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है और इसी कारण वह अनन्त काल तक इस गहन संसार वन में भटकता फिरता है तथा सदा संसार के तीव्र ताप से जलता रहता है।

अन्तरात्मा को शरीरादि में आत्मबुद्धि नहीं होती, किन्तु अपने ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्मा में ही उसकी आत्मबुद्धि होती है; इस कारण वह शरीर को अपने चैतन्यस्वरूप से भिन्न पुद्गल का पिण्ड समझता है। वह भेदज्ञान के बल से ध्यान द्वारा-स्वरूपलीनता द्वारा, अपने आत्मा को शरीरादि के बन्धन से सर्वथा पृथक् करता है और सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार दृष्टिभेद के कारण बहिरात्मा, पर के साथ एकत्वबुद्धि करके, संसार में परिभ्रमता है, जबकि अन्तरात्मा, पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर तथा स्व के साथ सम्बन्ध जोड़कर, अन्ततः संसार के दुःखों से परिमुक्त होता है।

अनादि काल से शरीर को आत्मा मानने की भूल, जीव ने स्वयं ही अपने अज्ञान से की है और वही आत्मज्ञान के द्वारा अपनी भूल को सुधार सकता है।

'शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप विभ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख, आत्मज्ञान से ही शान्त होता है। [२]'

शरीर में आत्मा का सम्बन्ध जोड़नेवाले बहिरात्मा के निन्दनीय व्यापार को बतलाकर खेद प्रगट करते हुए आचार्य कहते हैं :—

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, तृतीय अध्याय, पृष्ठ-५०-५१
२. श्री समाधितन्त्र, श्लोक-४१

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं! जगत्॥ १४॥

जाताः प्रवृत्ताः। काः ? पुत्रभार्यादिकल्पनाः। क्व ? देहेषु। कया ? आत्मधिया। क्व ? देहेष्वेव। अयमर्थः- पुत्रादिदेहं जीवत्वेन प्रतिपद्यमानस्य मत्पुत्रो भार्येत्यादि-कल्पना विकल्पा जायन्ते। ताभिश्चानात्मनीयाभिरनुपकारिणीभिश्च। सम्पत्तिं पुत्र-भार्यादिविभूत्यतिशयं आत्मनो मन्यते जगत्कर्तृस्वरूपाद् बहि-र्भूतं जगत् बहिरात्मा प्राणिगणः हा हतं नष्टं स्वस्वरूप-परिज्ञानाद्॥१४॥

जब तन में निज कल्पना, 'मम सुत-तिय' यह भाव।
परिग्रह माने आपनो, हाय! जगत् दुर्भाव॥ १४॥

अन्वयार्थ :- **(देहेषु)** शरीरों में **(आत्मधिया)** आत्मबुद्धि के कारण से, **(पुत्र-भार्यादि कल्पनाः जाताः)** मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादिक कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं। **(हा)** खेद है कि **(जगत्)** बहिरात्मस्वरूप प्राणिगण, **(ताभिः)** उन कल्पनाओं के कारण से, **(सम्पत्तिम्)** स्त्री-पुत्रादि की समृद्धि को, **(आत्मनः)** अपनी समृद्धि **(मन्यते)** मानते हैं। इस प्रकार यह जगत **(हतं)** घाता जा रहा है।

टीका :- उत्पन्न हुई-प्रवर्ती। क्या (प्रवर्ती) ? पुत्र-स्त्री आदि सम्बन्धी कल्पनाएँ। किसके विषय में ? शरीरों में। किस कारण से ? आत्मबुद्धि के कारण से। किसमें आत्मबुद्धि ? शरीरों में ही। तात्पर्य यह है कि पुत्रादि के देह को जीवरूप माननेवाले को, 'मेरा पुत्र, स्त्री' — ऐसी कल्पनाएँ-विकल्प होते हैं। अनात्मरूप और अनुपकारक, ऐसी उन कल्पनाओं से पुत्र-भार्यादिरूप विभूति के अतिशयस्वरूप सम्पत्ति को जगत अपनी मानता है। अरे! स्वस्वरूप के परिज्ञान से रहित, बहिरात्मरूप जगत-प्राणिगण घाता जा रहा है॥१४॥

भावार्थ :- *देह में आत्मबुद्धि के कारण, आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित बहिरात्माएँ, स्त्री-पुत्रादिक सम्बन्धों में अपनेपन की कल्पनाएँ करते हैं और उनकी समृद्धि को अपनी समृद्धि मानते हैं, इस प्रकार यह जगत घाता जा रहा है — यह खेद की बात है।*

जब तक जीव को शरीर में आत्मबुद्धि रहती है, तब तक उसको अपने निराकुल

इदानीमुक्तमर्थमुपसंहृत्यात्मन्यन्तरात्मनोऽनुप्रवेशं दर्शयन्नाह -

निजानन्दरस का स्वाद नहीं आता और वह अपनी अनन्त चतुष्टयरूप सम्पत्ति से अनजान रहता है। वह स्त्री, पुत्र, धन, धान्यादि बाह्य सम्पत्तियों को अपनी मानकर, उनके संयोग -वियोग में हर्ष-विषाद करता है। जिसके फलस्वरूप उसका संसार परिभ्रमण चालू रहता है; अतः आचार्य खेद दर्शाते हुए कहते हैं कि, 'हाय! यह जगत मारा गया! नष्ट हुआ! इसको अपना कुछ भी भान नहीं रहा!'

विशेष स्पष्टीकरण -

'.......तथा किसी समय किसी प्रकार अपनी इच्छानुसार परिणमन देखकर यह जीव उन स्त्री-पुत्रादिक में अहंकार-ममकार करता है और उसी बुद्धि से उनको उपजाने की, बढ़ाने की तथा रक्षा करने की चिन्ता द्वारा निरन्तर आकुल रहता है, नाना प्रकार के दुःख वेदकर भी उनका भला चाहता है...... '[1]

''मिथ्यादर्शन द्वारा यह जीव किसी समय बाह्यसामग्री का संयोग होने पर, उसको भी अपनी मानता है। पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, हाथी, घोड़ा, मन्दिर (मकान) और नौकर-चाकरादि जो स्वयं से प्रत्यक्ष भिन्न हैं, सदा काल अपने अधीन नहीं — ऐसा स्वयं को ज्ञात हो तो भी उनमें ममकार करता है।[2] *पुत्रादिक में 'यह है, वह मैं ही हूँ' — ऐसी भी किसी समय भ्रमबुद्धि होती है। मिथ्यादर्शन से शरीरादि का स्वरूप भी अन्यथा ही भाषता है।*[3] *''*

अब, कहे हुए अर्थ का उपसंहार करके, आत्मा में अन्तरात्मा का अनुप्रवेश दर्शाते हुए कहते हैं :—

---

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ८२

२. वपु गृंहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः। सर्वथान्यस्वभावानि भूढः स्वानि प्रपद्यते॥

अर्थात्, जिसके चित्त में क्षोभ नहीं है, (अर्थात् जिसके चित्त में राग-द्वेषादि विकारी परिणतिरूप क्षोभ-विक्षेप नहीं है) तथा जो तत्त्व में (आत्मस्वरूप में) भले प्रकार स्थित है — ऐसे योगी को सावधानीपूर्वक (अर्थात्, आलस, निद्रादि के परित्यागपूर्वक) एकान्त स्थान में अपने आत्मतत्त्व का अभ्यास करना। *(-श्री इष्टोपदेश, कलश ८)*

३. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ९२

मूलं संसारदु:खस्य देहे एवात्मधीस्तत:।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रिय:॥ १५॥

मूलं कारणं। कस्य? संसारदु:खस्य। काऽसौ? देह एवात्मधी: देह: काय: स एवात्मधी:। यत एवं ततस्तस्मात्-कारणात्। एनां देह एवात्मबुद्धि। त्यक्त्वा अन्त: प्रविशेत् आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्यात् अन्तरात्मा भवेदित्यर्थ:। कथंभूत: सन्? बहिरव्यापृतेन्द्रिय: बहिर्बाह्यविषयेषु अव्यापृतान्यप्रवृत्ता-नीन्द्रियाणि यस्य॥१५॥

जग में दु:ख का मूल है, तन में निज का ज्ञान।
यह तज विषय-विरक्त हो, लो निजात्म में स्थान॥ १५॥

अन्वयार्थ :- **(देहे)** शरीर में **(आत्मधी: एव)** आत्मबुद्धि होना, वही **(संसार दु:खस्य)** संसार के दु:ख का **(मूलं)** कारण है; **(तत:)** इसलिए **(एनां)** शरीर में आत्मबुद्धि को **(त्यक्त्वा)** छोड़कर तथा **(बहिरव्यापृतेन्द्रिय:)** बाह्य विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोककर, **(अन्त:)** अन्तरङ्ग में-आत्मा में **(प्रविशेत्)** प्रवेश करो।

टीका :- मूल, अर्थात् कारण। किसका? संसारदु:ख का। वह (कारण) क्या? देह में ही आत्मबुद्धि, अर्थात् देह-काया, वही आत्मा — ऐसी बुद्धि (मान्यता), वह। इस कारण इसका, अर्थात् देह में ही आत्मबुद्धि का त्याग करके, अन्तर में प्रवेश करना — आत्मा में आत्मबुद्धि करना-अन्तरात्मा होना — ऐसा अर्थ है। कैसा होकर? बाह्य में अव्यावृत्त इन्द्रियोंवाला होकर, अर्थात् बाह्यविषयों में जिसकी इन्द्रियाँ अव्यावृत्त-अप्रवत्त-हुई हैं (रुक गयी हैं-अटक गयी हैं)। वैसा होकर॥१५॥

भावार्थ :- *शरीर में आत्मबुद्धि होना ही संसार का मूलकारण है; अत: उसे छोड़कर तथा इन्द्रियों की बाह्यविषयों में होनेवाली प्रवृत्ति को रोककर, आत्मा में प्रवेश करना, अर्थात् पर की ओर से हटकर, स्वसन्मुख होना।*

संसार में जितना दु:ख है, वह सब शरीर में एकत्वबुद्धि के कारण ही होता है। जब तक जीव की बाह्यपदार्थों में एकत्वबुद्धि रहती है, तब तक आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध रहा करता है और इस कारण उसे संसार में घोर दु:ख भोगने पड़ते हैं।

जब जीव को शरीरादि परपदार्थों के प्रति ममत्वभाव छूट जाता है, तब उसको बाह्यपदार्थों

में अहंकार-ममकारबुद्धि नहीं होती। वह पर से मुख मोड़कर, स्वसन्मुख ढलता है और आत्मिक आनन्द का अनुभव करता है; इस कारण ग्रन्थकार ने, समस्त दुःखों का मूलकारण जो शरीर में आत्मबुद्धि है, उसका त्याग करके अन्तरात्मा होने की प्रेरणा दी है, जिससे जीव इन घोर सांसारिक दुःखों से परिमुक्त होकर, सच्चे निराकुल सुख को प्राप्त कर सके।

विशेष स्पष्टीकरण -

'.......इस जीव को पर्याय में अहंबुद्धि होती है, इससे वह अपने को और शरीर को एक जानकर प्रवर्तता है। इस शरीर में अपने को रुचे — ऐसी इष्ट अवस्था होती है, उसमें राग करता है तथा अपने को अरुचिकर — ऐसी अनिष्ट अवस्था में द्वेष करता है। शरीर की इष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्यपदार्थों में राग करता है तथा उनके घातक पदार्थों में द्वेष करता है....... कोई बाह्य पदार्थ, शरीर की अवस्था के कारणरूप नहीं, तथापि उनमें राग-द्वेष करता है।[1] '

''अपना स्वभाव तो दृष्टा-ज्ञाता है, सो स्वयं केवल देखनेवाला-जाननेवाला तो रहता नहीं, किन्तु जिन-जिन पदार्थों को देखता-जानता है, उनमें इष्ट-अनिष्टपना मानता है और उससे रागी-द्वेषी होता है। किसी का सद्भाव तथा किसी का अभाव चाहता है, किन्तु उनका सद्भाव या अभाव, इस जीव का किया होता नहीं है, क्योंकि कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं[2] किन्तु सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमते हैं। यह जीव, व्यर्थ ही कषाय करके आकुलित होता है।

तथा कदाचित् स्वयं चाहे, उसी प्रकार पदार्थ परिणमित हो, तब भी वह अपने परिणमाने से तो परिणमा नहीं है किन्तु जैसे चलती गाड़ी को धक्का देकर बालक ऐसा मानता है कि 'मैं इस गाड़ी को चलाता हूँ' — इस प्रकार वह असत्य मानता है।....''

अतः शरीरादि मेरे हैं और मैं उनकी क्रिया कर सकता हूँ — ऐसी शरीर में आत्मबुद्धि, वह अज्ञानचेतना है। उसका त्याग करके 'आत्मा ही मेरा है' — इस प्रकार आत्मा में ही आत्मबुद्धिरूप ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन करके, अन्तरात्मा होने का उपदेश आचार्यदेव ने अज्ञानी जीव के लिये किया है।

---

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ४, पृष्ठ ९२

२. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ४, पृष्ठ ९३

अन्तरात्मा आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्वाणोऽलब्धलाभात्संतुष्ट आत्मीयां बहिरात्मावस्था-मनुस्मृत्य विषादं कुर्वन्नाह -

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो (यतितो) विषयेष्वहम्।
तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः॥ १६॥

मत्तः आत्मस्वरूपात्। च्युत्वा व्यावृत्य। अहं पतितः (यतितः) अत्यासक्तया प्रवृत्तः। क्व ? विषयेषु। कैः कृत्व ? इन्द्रियद्वारैः इन्द्रियमुखैः। ततस्तान् विषयान् प्रपद्य ममोपकारका एते इत्यतिगृह्यानुसृत्य। मां आत्मानं। न वेद न ज्ञातवान्। कथ ? अहमित्युल्लेखेन अहमेवाहं न शरीरादिकमित्येवं तत्त्वतो न ज्ञातवानित्यर्थः। कदा ? पुरा पूर्वं अनादिकाले॥१६॥

अन्तरात्मा, आत्मा में अहंबुद्धि करता हुआ अलब्ध (पूर्व में नहीं प्राप्त ऐसे) लाभ से सन्तोष पाकर अपनी बहिरात्मदशा का स्मरण करके विषाद (खेद) करता है। वह कहते हैं :—

इन्द्रिय-विषय विमुग्ध हो, उनको हितकर जान।
'मैं आत्मा हूँ' नहीं लखा, भूल गया निज-भान॥ १६॥

अन्वयार्थ :- **(अहं)** मैं **(पुरा)** अनादि काल से **(मत्तः)** आत्मस्वरूप से **(च्युत्वा)** च्युत होकर **(इन्द्रिय द्वारैः)** इन्द्रियों द्वारा **(विषयेषु)** विषयों में **(पतितः)** पतित हुआ, **(ततः)** इससे **(तान्)** उन विषयों को **(प्रपद्य)** प्राप्त करके **(तत्त्वतः)** वास्तव में **(मां)** मुझे स्वयं को **(अहं इति न वेद)** मैं वही हूँ-आत्मा हूँ — ऐसा मैंने पहिचाना नहीं।

टीका :- अपने से, अर्थात् आत्मस्वरूप से च्युत होकर-पीछे हटकर, मैं पतित हुआ, अर्थात् अति आसक्ति से प्रवर्ता। कहाँ (प्रवर्ता) ? विषयों में। किसके द्वारा ? इन्द्रियोंरूप द्वारों से-इन्द्रिय-मुख से। फिर उन विषयों को प्राप्त करके, वे मेरे उपकारक हैं — ऐसा समझकर, उन्हें अतिपने ग्रहणकर-अनुसरण कर मैंने स्वयं के आत्मा को देखा नहीं, जाना नहीं। किस प्रकार से (नहीं जाना) ? 'मैं' ऐसे उल्लेख से मैं ही स्वयं (आत्मा) हूँ; शरीरादिरूप नहीं — इस प्रकार तत्त्वतः (वास्तव में) मैंने जाना नहीं — ऐसा अर्थ है। कब ? पूर्व में-अनादि काल से ॥१६॥

अथात्मनो ज्ञप्तावुपायं दर्शयन्नाह -

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः॥ १७॥

एवं वक्ष्यमाणन्यायेन। बहिर्वाचं पुत्रभार्याधनधान्यादि लक्षणान्बहिरर्थवाचक-

---

भावार्थ :- *अन्तरात्मा विचार करता है कि मैं अनादि काल से आत्मस्वरूप को चूककर, इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहा, उनमें आत्मबुद्धि करके मैंने निजात्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना।*

जब तक जीव को अपने वास्तविक चैतन्यस्वरूप का परिज्ञान नहीं होता, तब तक वह अपने स्वरूप से च्युत होकर, बाह्य इन्द्रियों के विषयों को अपने को सुखदायक-उपकारक समझकर, उनमें अति आसक्त रहता है-उनमें आत्मबुद्धि करता है, किन्तु जब उसे चैतन्य और पर जड़पदार्थों का-इन्द्रियों के विषयों का भेदविज्ञान होता है और अपने में निराकुल चिदानन्द सुधारस का स्वाद आता है, तब उसको बाह्यइन्द्रियों के विषयों, आदि पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं लगते; वे उसे मात्र ज्ञेयरूप भासित होते हैं।

इस कारण अन्तरात्मा पहले-बहिरात्मदशा में विषय-भोगों को सुखरूप मानकर सेवन करता था, वह अब भोगे हुए विषयों के विषय में विचार करने लगता है कि 'अरे! अज्ञानता से इन्द्रियों के विषयों में फँसकर, मैंने अपने चैतन्यस्वरूप को देखा नहीं।

अब, आत्मा को जानने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं :—

वाहिर वचन विलास तज, तज अन्तर मन भोग।
है परमात्म प्रकाश का, थोड़े में यह योग॥ १७।

अन्वयार्थ :- (**एवं**) आगामी श्लोक में कही जानेवाली विधि के अनुसार (**बहिर्वाचं**) बाह्य अर्थवाचक वचनप्रवृत्ति को (**त्यक्त्वा**) त्याग करके (**अन्तः**) अन्तरङ्ग वचनप्रवृत्ति को भी (**अशेषतः**) सम्पूर्णपने (**त्यजेत्**) तजना। (**एषः**) यह (**योगः**) योग, अर्थात् समाधि (**समासेन**) संक्षिप्त में (**परमात्मनः**) परमात्मस्वरूप का (**प्रदीपः**) प्रकाशक दीपक है।

टीका :- इस प्रकार, अर्थात् आगे कहे जानेवाले न्याय से, बाह्यवचन को, अर्थात् स्त्री-पुत्र, धन-धान्यादिरूप बाह्यार्थवाचक शब्दों को; अशेषपने, अर्थात् सम्पूर्णरूप से तजकर,

शब्दान्। त्यक्त्वा। अशेषतः साकल्येन। पश्चात् अन्तर्वाचं अहं प्रतिपादकः, प्रतिपाद्यः, सुखी, दुःखी, चेतनावेत्यादिलक्षणमन्तर्जल्पं त्यजेदशेषतः। एष बहिरन्तर्जल्पत्याग-लक्षणः। योगः स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणः समाधिः। प्रदीपः स्वरूपप्रकाशकः। कस्य? परमात्मनः। कथं ? समासेन संक्षेपेण झटिति परमात्मस्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः ॥१७॥

फिर अन्तरङ्गवचन को, अर्थात् मैं प्रतिपादक (गुरु), मैं प्रतिपाद्य (शिष्य), सुखी, दुःखी, चेतन इत्यादिरूप अन्तर्जल्प का पूर्णरूप से त्याग करना। इन बहिर्जल्प-अन्तर्जल्प के त्यागस्वरूप योग, अर्थात् स्वरूप में चित्त निरोध लक्षण समाधि; प्रदीप, अर्थात् स्वरूप प्रकाशक है। किसकी ? परमात्मा की। किस प्रकार ? समास से, अर्थात् संक्षेप से शीघ्रतया वह परमात्मस्वरूप की प्रकाशक है — ऐसा अर्थ है ॥१७॥

भावार्थ :- *बाह्य वचनप्रवृत्ति के विकल्प तथा अन्तरङ्ग विकल्पों का सर्वथा त्याग करके, चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होना, योग है, समाधि है। वह योग ही परमात्मा का प्रकाशक दीपक है।*

'स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि मेरे हैं' — इत्यादि मिथ्याप्रलाप, वह बाह्यवचन व्यापार -बहिर्जल्प है और 'मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं रंक, मैं राजा, मैं गुरु, मैं शिष्य' — इत्यादि अन्तरङ्ग वचनप्रवृत्ति, वह अन्तर्जल्प है। इन दोनों अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वचनप्रवृत्तियों का त्याग करके, आत्मस्वरूप में एकाग्रता प्राप्त करनी, वह योग अथवा समाधि है। यह योग ही परमात्मस्वरूप को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान है।

आचार्य ने योग को प्रदीप कहा है क्योंकि जैसे दीपक, निश्चय से अपने स्वरूप को प्रकाशता है, वैसे ही यह योग, अन्दर विराजित निजात्मा के स्वरूप को प्रकाशता है।

जिस समय आत्मा इन बाह्य-अभ्यन्तर सङ्कल्प-विकल्पों का त्याग करता है, उस समय वह इन्द्रियों की प्रवृत्ति से हटकर, निज स्वरूप में लीन हो जाता है और अपने शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

'मैं सिद्धसमान हूँ, मैं केवलज्ञानमय हूँ — इत्यादि ऐसे विकल्प मन में किया करे और उपयोग को शुद्धात्मस्वरूप में न जोड़े तो वह कल्पनाजाल है, उसी में फँसे रहने से शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता, क्योंकि ऐसा अन्तर्जल्प, आत्मानुभव में बाधक है। जहाँ तक

कुतः पुनर्बहिरन्तर्वाचस्त्यागः कर्तव्य इत्याह -

***यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।**
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम्॥ १८॥

रूपं शरीरादिरूपं यद् दृश्यते इन्द्रियैः परिच्छेद्यते मया तदचेतनत्वात् उक्तमपि वचनं सर्वथा न जानाति। जानता च समं वचनव्यवहारो युक्तो नान्येनातिप्रसङ्गात्।

अन्तर्जल्परूप अन्तरङ्गप्रवृत्ति है, वहाँ तक सविकल्पदशा है। ज्ञानी, अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप में उपयोग जोड़ने के लिये सविकल्पदशा का त्याग करते हैं। निर्विकल्पदशा-समाधि में ही आत्मा का अनुभव होता है; अतः ग्रन्थकार ने अन्तर्जल्परूप सविकल्पदशा का भी पूर्णतया त्याग करना सूचित किया है।'

जो अन्तरङ्ग में वचन-व्यापारवाली अनेक प्रकार का कल्पनाजाल है, वह आत्मा को दुःख का मूलकारण है। उसका नाश होने पर, हितकारी परमपद की प्राप्ति होती है।[१]

फिर, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग वचनप्रवृत्ति का त्याग किस प्रकार करना? - वह कहते हैं :—

रूप मुझे जो दीखता, वह तो जड़ अनजान।
जो जाने नहीं दीखता, बोलूँ किससे बान॥ १८॥

अन्वयार्थ :- **(मया)** मेरे द्वारा **(यत्रूपं)** जो रूप-शरीरादि रूपीपदार्थ **(दृश्यते)** दिखायी देते हैं, **(तत्)** वे अचेतन पदार्थ **(सर्वथा)** सर्वथा **(न जानाति)** किसी को नहीं जानते, और **(जानत् रूपं न दृश्यते)** जो जाननेवाला चेतन आत्मा है, वह अरूपी होने से मुझे दिखायी नहीं देता **(ततः अहं केन सह ब्रवीमि)** तो मैं किसके साथ बातचीत करूँ।

टीका :- रूप, अर्थात् शरीरादिरूप जो दिखायी देता है, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा मेरे से ज्ञात होता है, वह अचेतन होने से, (मेरे) बोले हुए वचनों को सर्वथा नहीं जानता; जो जानता (समझता) हो, उसके साथ वचन-व्यवहार योग्य है; अन्य के साथ (वचन-

---

* **जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा। जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जपेमि केण हं॥**
अर्थात्, जिस रूप को मैं देखता हूँ वह रूप मूर्तिक वस्तु है, जड़ है, अचेतन है, सब प्रकार से कुछ भी जानता नहीं है और मैं ज्ञायक हूँ, अमूर्तिक हूँ। यह तो जड़-अचेतन है, सब प्रकार से कुछ भी जानता नहीं है, इसलिए मैं किससे बोलूँ? *(-श्री मोक्षप्राभृत, गाथा-२९, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः)*

१. प्रस्तुत ग्रन्थ, श्लोक ८५

यच्च जानद् रूपं चेतनमात्मस्वरूपं तन्न दृश्यते इन्द्रियैर्न परिच्छिद्यते। यत एवं ततः केन सह ब्रवीम्यहम्॥१८॥

व्यवहार) योग्य नहीं, क्योंकि अति प्रसङ्ग आता है; और जो रूप, अर्थात् चेतन-आत्मस्वरूप जानता है, वह तो इन्द्रियों द्वारा दिखता नहीं, ज्ञात होता नहीं; यदि ऐसा है तो मैं किसके साथ बातचीत करूँ ?॥१८॥

भावार्थ :- *जो शरीरादि रूपीपदार्थ इन्द्रियों से दिखते हैं, वे अचेतन होने से बोले हुए वचनों को सर्वथा नहीं जानते-नहीं समझते और जिसमें जानने की सामर्थ्य है, वह चैतन्यस्वरूप आत्मा, अरूपी होने से इन्द्रियों द्वारा दिखता नहीं; अतः अन्तरात्मा विचारता है कि 'किसी के साथ बोलना या वचन-व्यवहार की प्रवृत्ति करना निरर्थक है, क्योंकि जो जाननेवाला चैतनद्रव्य है, वह तो मुझे दिखता नहीं और इन्द्रियों द्वारा जो रूपी शरीरादि जड़पदार्थ दिखते हैं, वे चेतनारहित होने से कुछ भी जानते नहीं, तो मैं किसके साथ बात करूँ ? किसी के साथ भी बातचीत करना बनता नहीं है; अतः अब तो मुझे अपने स्वरूप में रहना ही योग्य है, लेकिन बोलने का विकल्प, राग करना योग्य नहीं है।'*

इस श्लोक में आचार्यदेव ने विभावरूप बाह्यविकल्पजाल से छूटने का एक उत्तम उपाय दर्शाया है।

विशेष स्पष्टीकरण -

किसी के साथ बोलना, यह व्यवहार कथन है; निश्चयनय की दृष्टि से कोई जीव, बोल सकता ही नहीं है। जो वाणी निकलती है, वह भाषावर्गणारूप पुद्गलों का वचनरूप परिणमन है; वह आत्मा का कार्य नहीं है। उस कार्य में अज्ञानदशा में जीव के बोलने का विकल्प (राग) निमित्तमात्र है। विकल्प और वाणी — इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। न तो विकल्प के कारण ही वाणी निकलती है और न वाणी के कारण, विकल्प ही होता है। अज्ञानी को इस तथ्य का परिज्ञान न होने से वह ऐसा मानता है कि 'मैंने बोलने की इच्छा की तो वाणी निकली,' लेकिन तात्त्विक दृष्टि से विचारने पर यह सत्य नहीं है। भाषावर्गणा का वाणीरूप परिणमन उसके अपने कारण से है, स्वतन्त्र है; वह इच्छा से निरपेक्ष है, तथापि 'मैं बोलता हूँ' — ऐसा माननेवाला जीव, जीव व अजीव तत्त्वों में

एवं बहिर्विकल्पं परित्याज्यान्तर्विकल्पं परित्याजयन्नाह -

यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥ १९॥

परैरुपाध्यादिभिरहं यत्प्रतिपाद्यः परान् शिष्यादीनहं यत्प्रति-पादये तत्सर्वं मे उन्मत्तचेष्टितं मोहवशादुन्मत्तस्येवाखिलं विकल्पजालात्मकं विजृम्भितमित्यर्थः। कुत

एकत्वबुद्धि करता है। इस विपरीतमान्यता के कारण उसको अनन्त संसार की कारणभूत अनन्तानुबन्धी कषाय हुए बिना रहती नहीं।

ज्ञानी को अस्थिरता के कारण बोलने का विकल्प आने पर भी, स्वभाव की दृष्टि से उसे अभिप्राय में उस विकल्प का निषेध वर्तता है क्योंकि वह जानता है कि विकल्प, वह राग है, जो आत्मा का स्वरूप नहीं; अपितु आत्मा से भिन्न है।

अत: किसी के साथ बात करने का विकल्प करना, वह दोष है — ऐसी समझपूर्वक जो स्वरूप में लीनतारूप मौन का सेवन करता है, उसको ही सच्ची वचनगुप्ति होती है — ऐसी वचनगुप्ति से अन्तर्बाह्य वचनप्रवृत्ति का नाश स्वत: होता है।

इस प्रकार बाह्य विकल्पों का परित्याग करके, आभ्यन्तर विकल्पों को छुड़ाते हुए कहते हैं :—

अन्य मुझे उपदेश दे, मैं उपदेशूँ अन्य।
यह मम चेष्टा मत्तसम, मैं अविकल्प अनन्य॥ १९॥

अन्वयार्थ :- **(परैः अहं प्रतिपाद्यः)** अन्य के द्वारा मैं कुछ सीखनेयोग्य हूँ, अर्थात् अन्य उपाध्यायादि मुझे कुछ सिखाते हैं अथवा **(अहं परान् प्रतिपाद्ये)** मैं किसी अन्य को कुछ सिखाता हूँ या सिखा सकता हूँ (यदि मैं ऐसा विकल्प करता हूँ) **(तत् मे उन्मत्तचेष्टितं)** तो वह मेरी पागलपन की चेष्टा है। **(यत् अहं निर्विकल्पकः)** क्योंकि मैं तो निर्विकल्पक हूँ, अर्थात् वचन-विकल्पों से अग्राह्य हूँ।

टीका :- पर द्वारा, अर्थात् उपाध्यायादि द्वारा मुझे सिखाया जाता है और दूसरों को -शिष्यों आदि को मैं सिखाता हूँ, ये सब मेरी उन्मत्त (पागल) चेष्टा है — मोहवशात् उन्मत्तता (पागल के) समान ही ये सब विकल्पजालरूप चेष्टा प्रवर्तती है — ऐसा अर्थ

एतत् ? यदहं निर्विकल्पको यद्यस्मादहमात्मा निर्विकल्पक एतैर्वचनविकल्पैर-ग्राह्यः ॥१९ ॥

है। किस वजह से (उन्मत्त चेष्टा) है ? क्योंकि मैं (आत्मा) तो निर्विकल्पक, अर्थात् वचन विकल्पों से अग्राह्य हूँ ॥१९ ॥

भावार्थ :- *अध्यापकादि मुझे सिखाते हैं तथा मैं अन्य शिष्यादिकों को सिखाता हूँ — ऐसा विकल्प करूँ (तो) वह मेरा उन्मत्तपना-पागलपना है, क्योंकि मेरा वास्तविक स्वरूप तो निर्विकल्प है, अर्थात् मैं समस्त विकल्पों से अग्राह्य हूँ — पर हूँ।*

आत्मा का स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है। किसी को सिखाना या उसका भला-बुरा करना, वह वास्तव में आत्मा का स्वभाव नहीं है क्योंकि 'कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य का कर्ता है ही नहीं, किन्तु सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमते हैं' — ऐसा विचारकर सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा, अन्तर के विकल्पों को तोड़कर, स्वरूप में लीन होने का प्रयत्न करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

विकल्प दूर करके, परमात्मतत्त्व में लीन होने की प्रेरणा करते हुए श्री अमितगति आचार्य कहते हैं —

सर्व निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२१ ॥

अर्थात्, *संसाररूप दुर्गम जंगल में भटकाने के हेतुभूत विकल्प जालों को दूर करके, अपने आत्मा को सर्व से — द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न अनुभव करते हुए, तू परमात्मतत्त्व में लीन हो।*[१]

उन्मत्तता सम्बन्धी स्पष्टीकरण —

उन्मत्तता दो प्रकार की है —

१. श्रद्धा-अपेक्षा उन्मत्तता, और २. चारित्र-अपेक्षा उन्मत्तता।

१. तत्त्वार्थसूत्र में दर्शायी गयी उन्मत्तता, श्रद्धा-अपेक्षा से है। मिथ्यादृष्टि, सत् और असत्

---

१. जो संसार पतन के कारण, उन विकल्प जालों को छोड़।
निर्विकल्प निर्द्वन्द आत्मा, फिर-फिर लीन उसी में हो॥ *- श्री भावना बत्तीसी, काव्य-२१*

तदेव विकल्पातीतं स्वरूपं निरूपयन्नाह -

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नैव मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥ २०॥

का भेद नहीं जानता। वह पागल पुरुष की तरह अपनी रुचि-अनुसार वस्तु को समझता है। जैसे, मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ पुरुष, माता-पत्नी का भेद नहीं जानता होने से, कभी माता को पत्नी और पत्नी को माता कहता है और वह किसी समय पत्नी को पत्नी और माता को माता भी कहता है, तथापि वह सही समझपूर्वक वैसा कहता है, यह बात नहीं है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को भी वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होने से, उसके विकल्प, मिथ्यामान्यता के कारण उन्मत्त पुरुष के समान होते हैं।

२. प्रस्तुत श्लोक में जो उन्मत्तता दर्शायी है, वह अन्तरात्मा की चारित्र-अपेक्षा से है; श्रद्धा अपेक्षा नहीं, क्योंकि ज्ञानी को भी अस्थिरता के कारण वैसे विकल्प उठते हैं, किन्तु उसको अभिप्राय में उनका आदर नहीं है। जहाँ तक विकल्प उठते है, वहाँ तक निर्विकल्प नहीं हुआ जा सकता; अतः आचार्यदेव ने विकल्प तोड़कर, निर्विकल्प होने का निर्देश किया है और अन्तरात्मा की भूमिका के विकल्पों को चारित्र-अपेक्षा से उन्मत्तपना कहा है।

उसी विकल्पातीत (निर्विकल्प) स्वरूप का निरुपण करते हुए कहते हैं :—

बाह्य पदार्थ नहीं ग्रहे, नहीं छोड़े निजभाव।
सबको जानेमात्र वह, स्वानुभूति से ध्याव॥ २०॥

अन्वयार्थ :- **(यत्)** जो, अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप **(अग्राह्यं)** अग्राह्य को, अर्थात् क्रोधादिस्वरूप को **(न गृह्णाति)** ग्रहण नहीं करता, और **(गृहितं अपि)** ग्रहण किए हुए को, अर्थात् अनन्त ज्ञानादि गुणों को **(न ऐव मुञ्चति)** भी नहीं छोड़ता तथा **(सर्व)** सम्पूर्ण पदार्थों को **(सर्वथा)** सर्व प्रकार से, अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से **(जानाति)** जानता है, **(तत् स्वसंवेद्य),** वह अपने अनुभव में आनेयोग्य चेतनद्रव्य **(अहं अस्मि)** मैं हूँ।*

---

* **जो णिय भाउ ण परिहरइ जो पर-भाउ ण लेइ। जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ॥**
अर्थात्, जो अनन्तज्ञानादिरूप निज भाव को कभी छोड़ता नहीं है, काम-क्रोधादि पर भावों को कभी ग्रहण नहीं करता, समस्त ही पदार्थों को मात्र सदा जानता है; वही शिव, शान्तस्वरूप है।
(श्री परमात्माप्रकाश, अध्याय-१/१८)

यत् शुद्धात्मस्वरूपं। अग्राह्यं कर्मोदयनिमित्तं क्रोधादिस्वरूपं। न गृह्णाति आत्मस्वरूपतया न स्वीकरोति। गृहीतमनन्तज्ञानादिस्वरूपं। नैव मुञ्चति कदाचिन्न परित्यजति। तेन च स्वरूपेण सहितं शुद्धात्मस्वरूपं किं करोति ? जानाति। किं विशिष्टं तत् ? सर्वं चेतनमचेतनं वा वस्तु। कथं जानाति ? सर्वथा द्रव्यपर्यायादि-सर्वप्रकारेण। तदित्थम्भूतं स्वरूपं स्वसंवेद्यं स्वसंवेदनग्राह्यम् अहमात्मा अस्मि भवामि॥२०॥

टीका :- जो, अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप है, वह अग्राह्य को, अर्थात् कर्मोदय के निमित्त से होते हुए क्रोधादिरूप को ग्रहण नहीं करता, अर्थात् उनको आत्मस्वरूपपने स्वीकार नहीं करता और ग्रहण किये हुए अनन्त ज्ञानादि स्वरूप को छोड़ता ही नहीं, अर्थात् कभी भी उनका परित्याग नहीं करता — ऐसे स्वरूपवाला शुद्धात्मस्वरूप क्या करता है ? जानता है। क्या जानता है ?समस्त चेतन व अचेतन वस्तुओं को (जानता है)। किस प्रकार जानता है ? वह सर्वथा, अर्थात् द्रव्य-पर्यायादि को सर्व प्रकार से (जानता है)। इससे ऐसा स्वसंवेद्यस्वरूप, अर्थात् स्वसंवेदन से ग्राह्य स्वरूप, वह मैं-आत्मा हूँ॥२०॥

भावार्थ :- *शुद्धात्मा, अनुभवगम्य चैतन्यद्रव्य है। वह नहीं ग्रहण करनेयोग्य राग-द्वेषादि को ग्रहण नहीं करता और ग्रहण किये हुए आत्मिक गुणों को-अनन्त ज्ञानादि गुणों को नहीं छोड़ता। वह सम्पूर्ण पदार्थों को सर्वथा-द्रव्य-गुण-पर्यायसहित जानता है।*

'जो निजभाव को नहीं छोड़ता, किसी भी परभाव को ग्रहण नहीं करता, सर्व को जानता-देखता है, वह मैं हूँ — ऐसा ज्ञानी चिन्तन करता है।[1]'

विशेष स्पष्टीकरण -

आत्मा, परद्रव्य को जरा भी ग्रहण नहीं करता तथा नहीं छोड़ता, क्योंकि परनिमित्त के आश्रय से हुए-प्रायोगिकगुण की सामर्थ्य से तथा स्वाभाविक-वैस्रसिकगुण की सामर्थ्य से आत्मा द्वारा परद्रव्य का ग्रहण करना तथा छोड़ना अशक्य है।[2]

आत्मा के परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कहना तो व्यवहारनय का कथनमात्र है। निश्चयनय

---

१. **णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केइं। जाणदि पस्सदि सव्वं सो हं इदि चिंतए णाणी॥**
अर्थात्, जो निजभाव को नहीं छोड़ता, किञ्चित् भी परभाव को ग्रहण नहीं करता, सर्व को जानता-देखता है, वह मैं हूँ — ऐसा ज्ञानी चिन्तवन करता है। *(श्री नियमसार, गाथा ९७)*

२. श्री समयसार, गाथा-४०६, श्री प्रवचनसार, गाथा-३२ और श्री समयसार, कलश-२७६

इत्थं भूतात्मपरिज्ञानात्पूर्वं कीदृशं मम चेष्टितमित्याह -

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम्।
तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात्॥ २१॥

से तो वह परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कर सकता ही नहीं है। जब जीव, आत्मस्वरूप में लीन होता है, तब रागादि विकार स्वयं छूट जाता है, उसे छोड़ना नहीं पड़ता और आत्मिक गुण स्वयं प्रगट होते हैं।

जब आत्मस्वरूप सम्पूर्णरूप से प्रगट होता है, तब आत्मा के ज्ञानगुण की पर्याय भी केवलज्ञानरूप से प्रगट होती है। इस केवलज्ञान की ऐसी अनन्त महिमा है कि वह अनन्त द्रव्यों के अनन्त गुणों को और उनकी त्रिकालवर्ती विकारी-अविकारी अनन्त पर्यायों को सम्पूर्णरूप से एक ही समय में सर्वथा प्रत्यक्ष जानता है।[1]

ज्ञान, परपदार्थों को जानता है — ऐसा कहना भी व्यवहारनय का कथन है। वास्तव में तो आत्मा को, अपने को जानते हुए, समस्त परपदार्थ ज्ञात हो जाते हैं — ऐसी ज्ञान की निर्मलता-स्वच्छता है।

तथा वह आत्मस्वरूप स्वसंवेद्य है, अर्थात् अपने आत्मा के ही अनुभव में आवे, वैसा है। गुरु, उनकी वाणी अथवा तीर्थङ्कर भगवान की दिव्यध्वनि भी उसका अनुभव करा सके, वैसा नहीं है; जीव अनुभव करे तो वह निमित्तमात्र कहलाती है। वह (आत्मस्वरूप) स्वानुभवगोचर है। आत्मा स्वयं ही उसे पहिचानकर, अनुभव कर सकता है।

इस प्रकार वास्तव में आत्मा के परद्रव्य का तथा रागादि का गहण-त्याग नहीं है, वह सर्वज्ञ है और मात्र स्वानुभवगोचर है।

ऐसे आत्मपरिज्ञान से पूर्व मेरी चेष्टा कैसी थी? वह कहते हैं:—

करें स्तम्भ में पुरुष की, भ्रान्ति यथा अनजान।
त्यों भ्रमवश तन आदि में, कर लेता निजभान॥ २१॥

अन्वयार्थ :- **(स्थाणौ)** वृक्ष के ठूंठ में **(उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः)** उत्पन्न हो गयी है पुरुषपने की भ्रान्ति जिसको — ऐसे मनुष्य को **(यद्वत्)** जिस प्रकार **(विचेष्टितम्)** विकृत

१. श्री प्रवचनसार, गाथा-३७, ३८, ३९, ४१, ४७, ४८, ४९, ५१ में यह विषय स्पष्टरूप से आया है।

उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः पुरुषोऽयमित्युत्पन्ना भ्रान्तिर्यस्य प्रतिपत्तुस्तस्य। स्थाणौ स्थाणुविषये। यद्वद्यत्प्रकारेण। विचेष्टितं विविधमुपकारापकारादिरूपं चेष्टितं विपरीतं वा चेष्टितं। तद्वत् तत्प्रकारेण। मे चेष्टितं। क्व ? देहादिषु। कस्मात् ? आत्मविभ्रमात् आत्मविपर्यासात्। कदा ? पूर्वं उक्तप्रकारात्मस्वरूपपरिज्ञानात्॥२१॥

अथवा विपरीत चेष्टा होती है; **(तद्वत्)** उसी प्रकार की **(देहादिषु)** शरीरादिक पर-पदार्थों में **(आत्मविभ्रमात)** आत्मा का भ्रम होने से, **(पूर्व)** आत्मज्ञान से पहले **(मे)** मेरी **(चेष्टितम्)** चेष्टा थी।

टीका :- पुरुष की भ्रान्ति जिसको उत्पन्न हुई है, उसकी — अर्थात् 'यह पुरुष है' — ऐसी जिसको भ्रान्ति उत्पन्न हुई है, उसकी — ऐसा माननेवाले की स्थाणु में (ठूंठ के विषय में) जिस रीति से-जिस प्रकार से विचेष्टा होती है-विविध प्रकार की चेष्टा होती है, अर्थात् उपकार-अपकारादिरूप चेष्टा या विपरीत चेष्टा होती है-उस अनुसार-उस प्रकार मैंने चेष्टा की। किसके विषय में ? देहादिक के विषय में। किस कारण से ? आत्मविभ्रम-आत्मविपर्यास के कारण से। कब ? पूर्व में, अर्थात् उक्त प्रकार के आत्मस्वरूप के परिज्ञान के पूर्व में॥२१॥

भावार्थ :- *अन्तरात्मा विचारता है कि जिस प्रकार कोई पुरुष, भ्रम से वृक्ष के ठूंठ को पुरुष समझकर, उससे अपने उपकार-अपकारादि की कल्पना करके सुखी-दुःखी होता है; इसी प्रकार मैं भी मिथ्यात्व अवस्था में, भ्रम से शरीरादिक को आत्मा समझकर उनसे अपने का उपकार-अपकारादि की कल्पना करके सुखी-दुःखी हुआ — यह मेरी मूर्खतापूर्ण चेष्टा थी। कोई ठूंठ को पुरुष माने और मैं शरीरादि को आत्मा मानूँ; इस प्रकार दोनों के विभ्रम में और चेष्टा में कोई अन्तर नहीं है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे, एक नारी (स्त्री) ने काठ की पुतली बनाकर, उसको अलङ्कार, वस्त्रादि पहनाकर अपने महल में पलङ्ग में सुला दिया और वस्त्र से ढँक दिया। वहाँ, उस स्त्री का पति आया, उसने ऐसा जाना कि मेरी पत्नी शयन कर रही है; वह उसको हिलाता है, हवा करता है, परन्तु वह (पुतली) तो बोलती नहीं। सारी रात बहुत सेवा की; प्रभात होने पर उसने जाना कि यह तो काष्ठ की पुतली है; तब वह पछताया कि मैंने झूठी (व्यर्थ) सेवा की। इसी प्रकार अनादि

साम्प्रतं तु तत्परिज्ञाने सति कीदृशं मे चेष्टितमित्याह -

यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे।
तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः॥ २२॥

असौ उत्पन्नपुरुषभ्रान्तिः पुरुषाग्रहे पुरुषाभिनिवेशे निवृत्ते विनष्टे सति यथा येन पुरुषाभिनिवेशजनितोपकारापकाराद्यु-द्यमकरणभूतेनपरित्यागप्रकारेण। चेष्टते प्रवर्तते। तथाचेष्टोऽस्मि तथा तदुद्यमपरित्यागप्रकारेण चेष्टा यस्यासौ तथाचेष्टोऽस्मि

से वृथा ही पर-अचेतन की सेवा कर रहा है। ज्ञान होने पर, वह जानता है कि यह जड़ है, तब उसका स्नेह त्यागता है और स्वरूपानन्दी होकर सुख पाता है।[1]

वर्तमान में उसका (आत्मा का) परिज्ञान होने पर, मेरी कैसी चेष्टा हो गयी है? - वह कहते हैं :—

भ्रम तज नर उस स्तम्भ में, नहीं होता हैरान।
त्यों तनादि में भ्रम हटे, नहीं पर में निजभान॥ २२॥

अन्वयार्थ :- **(असौ)** जिसको वृक्ष के ठूंठ में पुरुष का भ्रम हो गया था, वह मनुष्य **(स्थाणौ)** ठूंठ में **(पुरुषाग्रहे निवृत्ते)** '*यह पुरुष है*' — ऐसे मिथ्याभिनिवेश के नष्ट हो जाने पर, **(यथा)** जिस प्रकार उससे अपने उपकारादि की कल्पना त्यागने की **(चेष्टते)** चेष्टा करता है; उसी प्रकार **(देहादौ)** शरीरादिक में **(विनिवृत्तात्मविभ्रमः)** आत्मपने के भ्रम से रहित हुआ मैं भी, **(तथा चेष्टः अस्मि)** देहादिक में अपने उपकारादि की बुद्धि को छोड़ने में प्रवृत्त हुआ हूँ।

टीका :- (ठूंठ में) पुरुषाग्रह, अर्थात् पुरुषाभिनिवेश निवृत्त होने पर-नष्ट होने पर, जिसे (ठूंठ में) पुरुष की भ्रान्ति हुई थी, वह (मनुष्य), जिस प्रकार पुरुषाभिनिवेशजनित उपकार-अपकारादि से प्रवृत्ति का परित्याग करनेरूप चेष्टा करता है, प्रवर्तता है; इसी प्रकार मैंने चेष्टा की है, अर्थात् उस प्रवृत्ति के परित्याग-अनुरूप जिसको जैसी चेष्टा होती है, वैसी चेष्टावाला मैं बन गया हूँ।

कहाँ (किस विषय में)? देहादि में। कैसा (हुआ हूँ)? जिसका आत्मविभ्रम विनिवृत्त

---

१. श्री अनुभवप्रकाश, पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल

भवाम्यहम्। क्व? देहादौ। किंविशिष्टः? विनिवृत्तात्मविभ्रमः विशेषेण निवृत्त आत्मविभ्रमो यस्य। क्व? देहादौ॥२२॥

हुआ है, वैसा; अर्थात्, जिसका आत्मविभ्रम विशेषरूप से निवृत्त हुआ है, वैसा हुआ हूँ। कहाँ (किस विषय में)? देहादि में॥२२॥

भावार्थ :- *जब मनुष्य, ठूंठ को ठूंठ समझता है, तब पहले उसमें पुरुष की कल्पना करके, जो उपकार-अपकारादि की कल्पनारूप चेष्टा करता था, वह बन्द हो जाती है; इसी प्रकार अन्तरात्मा को भेदविज्ञान द्वारा शरीर और आत्मा की एकता का भ्रम दूर होने पर, शरीरादि में उपकार-अपकाररूप बुद्धि नहीं रहती और इसलिए उनके प्रति उदासीन रहता है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

ज्ञानी अपने आत्मा को शरीर से भिन्न और अत्यन्त पृथक् जाति का मानता है क्योंकि :—

१. शरीर, रूपी; आत्मा, अरूपी;

२. शरीर, जड़; आत्मा, चेतन;

३. शरीर, संयोगी; आत्मा, असंयोगी;

४. शरीर, विनाशी; आत्मा, अविनाशी;

५. शरीर, अन्धा (ज्ञानशून्य); आत्मा, देखता (ज्ञानमय);

६. शरीर, इन्द्रियग्राह्य,; आत्मा, अतीन्द्रियग्राह्य;

७. शरीर, बाह्य परतत्त्व; आत्मा, अन्तरङ्ग स्वतत्त्व —

इत्यादि प्रकार से दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार अत्यन्त भिन्नपने के विवेक से जीव को जब भेदज्ञान होता है, तब शरीरादि में आत्मबुद्धि का भ्रम छूट जाता है। शरीर के सुधार-बिगाड़ से आत्मा सुधरता-बिगड़ता है — ऐसा भ्रम मिट जाता है। देहादिक परपदार्थों के प्रति कर्ताबुद्धि के स्थान पर, ज्ञाताबुद्धि उत्पन्न होती है और वह आत्मसन्मुख झुककर, चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होने लगता है।

इस प्रकार जब जीव को भेदविज्ञान के द्वारा स्व-पर का भान होता है, तब वह परभाव से हटकर स्वसन्मुख होता है।

अथेदानीमात्मनि स्त्र्यादिलिङ्गैकत्वादिसंख्याविभ्रमनिर्वृत्यर्थं तद्विविक्तासाधारणस्वरूपं दर्शयन्नाह -

येनात्मनाऽनुभुयेऽहमात्मनैवात्मनाऽऽत्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥ २३ ॥

येनात्मना चैतन्यस्वरूपेण ''इत्थंभावे तृतीया''। अहमनुभूये। केन कर्त्रा? आत्मनैव अनन्येन। केन कारणभूतेन? आत्मना स्वसंवेदनस्वभावेन। क्व? आत्मनि स्वस्वरूपे। सोऽहं इत्थंभूतस्वरूपोऽहं। न तत् न नपुंसकं। न सा न स्त्री। नासौ न पुमान् अहं। तथा नैको न द्वौ न वा बहु रहं। स्त्रीत्वादिधर्माणां कर्मोत्पादितदेह-स्वरूपत्वात् ॥२३ ॥

अब, आत्मा में स्त्री आदि लिङ्ग और एकत्वादि संख्या सम्बन्धी विभ्रम की निवृत्ति के लिए, उनसे विविक्त (भिन्न) असाधारण स्वरूप बताते हुए कहते हैं :—

आत्मा को ही निज गिनूँ, नहीं नारी-नर-षण्ड।
नहीं एक या दो बहुत, मैं हूँ शुद्ध अखण्ड ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ :- **(येन)** जिस **(आत्मना)** आत्मा से-चैतन्यस्वरूप से **(अहम्)** मैं **(आत्मनि)** अपनी आत्मा में ही **(आत्मना)** आत्मा द्वारा — स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा **(आत्मनैव)** अपनी आत्मा को आप ही **(अनुभूये)** अनुभव करता हूँ, **(सः)** वही — शुद्धात्मस्वरूप **(अहं)** मैं, **(न तत्)** न तो नपुंसक हूँ, **(न सा)** न स्त्री हूँ, **(न असौ)** न पुरुष हूँ, **(न एको)** न एक हूँ, **(न द्वौ)** न दो हूँ, **(वा)** और **(न बहुः)** न बहुत हूँ।

टीका :- जो आत्मा द्वारा-चैतन्यस्वरूप द्वारा मैं अनुभव में आता हूँ — किससे? आत्मा से ही; अन्य किसी से नहीं; किस करण (साधन) द्वारा? आत्मा द्वारा-स्वसंवेदन स्वभाव द्वारा; कहाँ? आत्मा में-स्वस्वरूप में, वह मैं हूँ — ऐसा स्वरूपवाला हूँ। न तो मैं नपुंसक हूँ, न स्त्री हूँ, न पुरुष हूँ; तथा न मैं एक हूँ, न दो हूँ अथवा न मैं बहुत हूँ; क्योंकि स्त्रीत्वादि धर्म हैं, वे तो कर्मोपादित देहस्वरूपवाले हैं ॥२३ ॥

भावार्थ :- *मैं, स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप को अपने आत्मा में*

येनात्मना त्वमनुभूयसे स कीदृशः इत्याह -

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥ २४॥

अनुभवता हूँ, अर्थात् मैं चैतन्यस्वरूप स्वसंवेदनगम्य हूँ। उसमें स्त्री-पुरुषादि लिङ्ग का तथा एक-दो आदि संख्या के विकल्पों का अभाव है।

अन्तरात्मा विचारता है कि जीव में स्त्री-पुरुषादि का व्यवहार, केवल शरीर के कारण है। एक, दो और बहुवचन का व्यवहार भी शरीराश्रित है। जबकि शरीर मेरारूप ही नहीं है और मेरा शुद्धस्वरूप निर्विकल्प है, तब मेरे में लिङ्गभेद और वचनभेद के विकल्प कैसे घटित हो सकते हैं? यह स्त्रीत्वादि धर्म तो कर्मोपादित देह का स्वरूप है; मेरा स्वरूप नहीं। मेरा चैतन्यस्वरूप तो इन सबसे पर (भिन्न) है।

***विशेष स्पष्टीकरण** -*

आत्मा, शुद्ध आनन्दस्वभावी है, एक है — ऐसा रागमिश्रित विचार भी स्वभाव में नहीं है। गुण-गुणी के रूप से दो है और ज्ञान-दर्शन के उपयोग से दो है — ऐसा भेद, स्वरूप में नहीं है। आत्मा का शुद्धस्वरूप अभेद, गुण-गुणी के भेदरहित है। उसमें लिङ्गभेद, वचनभेद, विकल्पभेदादि कुछ भी नहीं है।

यहाँ आचार्य का लक्ष्य, अभेद-अखण्ड आत्मा के स्वरूप पर है; इसलिए उन्होंने कहा है कि वास्तव में आत्मा को स्त्री, पुरुष, नपुंसकादि अवस्थाएँ नहीं हैं; गुणों के भेदरूप और कारकों के भेदरूप कल्पना नहीं है — ऐसी समझ से ज्ञानी, भेदविज्ञान करके निरन्तर आत्मस्वरूप में एकाग्र होने की भावना भाता है।

जिस आत्मा से तुम स्वयं अनुभव में आते हो, वह कैसा है? यह कहते हैं :—

बोधि बिना निद्रित रहा, जगा लखा चैतन्य।
इन्द्रियबिन अव्यक्त हूँ, स्वसंवेदन गम्य॥ २४॥

***अन्वयार्थ** :-* **(यत् अभावे)** जिस शुद्धात्मस्वरूप के प्राप्त न होने से **(अहं)** मैं **(सुषुप्तः)** अब तक गाढ़ निद्रा में पड़ा रहा — मुझे पदार्थों का यथार्थ परिज्ञान न हो सका — **(पुनः)** और **(यत् भावे)** जिस शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि होने पर, मैं **(व्युत्थितः)**

यस्य शुद्धस्य स्वसंवेद्यस्य रूपस्य अभावे अनुपलम्भे। सुषुप्तो यथावत्पदार्थ-परिज्ञानाभावलक्षणनिद्रया गाढाक्रान्तः। यद्भावे यस्य तत्स्वरूपस्य भावे उपलम्भे। पुनर्व्युत्थितः विशेषेणोत्थितो जागरितोऽहं यथावत्स्वरूपपरिच्छित्तिपरिणत इत्यर्थः। किंविशिष्टं तत्स्वरूपं? अतीन्द्रियं इन्द्रियैरजन्यमग्राह्यं च। अनिर्देश्यं शब्दविकल्पा-गोचरत्वादिदंतयाऽनिदन्तया वा निर्देष्टुम-शक्यम्। तदेवंविधं स्वरूपं कुतः सिद्धमित्याह -तत्स्वसंवेद्यं तदुक्तप्रकारकस्वरूपं स्वसंवेदनग्राह्यं अहमस्मीति॥२४॥

जागृत हुआ हूँ — यथावत् वस्तुस्वरूप को जानने लगा हूँ, **(तत्)** वह शुद्धात्मस्वरूप **(अतीन्द्रियं)** इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है **(अनिर्देश्यं)** वचनों के भी अगोचर है — कहा नहीं जाता। वह तो **(स्वसंवेद्य)** अपने द्वारा आप ही अनुभव करने योग्य है। उसीरूप **(अहं अस्मि)** मैं हूँ।

टीका :- जिस शुद्ध स्वसंवेद्यरूप के अभाव से, अर्थात् उसको अनुपलब्धि में-अप्राप्ति में, मैं सो रहा था, अर्थात् यथावत् पदार्थ-परिज्ञान का अभाव जिसका लक्षण है — ऐसी निद्रा में मैं गाढ़ घिरा हुआ था (लिपटा हुआ था); और जिसके सद्भाव में, अर्थात् जिसके तत्स्वरूप के सद्भाव में — प्राप्ति में (जिस स्वरूप का अनुभव होने पर) मैं जागृत हुआ — विशेषरूप से जागृत हुआ, अर्थात् मैं यथावत् स्वरूप के परिज्ञानस्वरूप से परिणमित हुआ, ऐसा अर्थ है।

तत्स्वरूप किस प्रकार का है? वह अतीन्द्रिय है, अर्थात् इन्द्रियजन्य नहीं है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है और वचन-अगोचर, अर्थात् शब्द-विकल्पों से अगोचर होने से (शब्दों द्वारा कहने में नहीं आता होने से) यह या वह स्वरूपादिरूप से कहा जा सके, वैसा नहीं है। तो ऐसे प्रकार का स्वरूप कहाँ से सिद्ध होता है? — सो कहते हैं - **'**वह स्वसंवेद्यस्वरूप, अर्थात् वह उक्त प्रकार का स्वसंवेदन से ग्राह्यस्वरूप, वह मैं हूँ**'**॥२४॥

भावार्थ :- *जो शुद्धात्मस्वरूप, अतीन्द्रिय, वचन-अगोचर और स्वानुभवगम्य है, वह मैं हूँ — ऐसा जब तक जीव को ज्ञान नहीं था, तब तक वह अज्ञाननिद्रा में सो रहा था परन्तु जब उसको अपने उक्त प्रकार के स्वरूप का यथावत् भान हुआ, तब वह वास्तव में जागृत हुआ, अर्थात् उसके परिज्ञानरूप से परिणमित हुआ।*

जिसको शुद्धात्मा की उपलब्धि है, वही जागता है और जिसको शुद्धात्मा की उपलब्धि

तत्स्वरूपं स्वसंवेदयतो रागादिप्रक्षयान्न क्वचिच्छत्रुमित्रव्यवस्था भवतीति दर्शयन्नाह -

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः॥ २५॥

अत्रैव न केवलमग्रे किन्तु अत्रैव जन्मनि क्षीयन्ते। के ते? रागाद्याः आदौ भवः आद्यः राग आद्यो येषां द्वेषादीनां ते तथोक्ताः। किं कुर्वन्तस्ते क्षीयन्ते? तत्त्वतो मां प्रपश्यतः। कथम्भूतं मां? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपं। तत इत्यादि यतो यथावदात्मानं पश्यतो रागादयः प्रक्षीणास्ततस्तस्मात् कारणात् न मे कश्चिच्छत्रुः न च नैव प्रियो मित्रम्॥२५॥

नहीं है, वह सोता है। जब से वह स्वसंवेदन द्वारा चिदानन्दस्वरूप को अनुभवता है, तब से वह सदा जागृत ही है — ऐसा समझना।

उस स्वरूप का स्वसंवेदन करनेवाले को रागादि का विशेष क्षय होने से, कथञ्चित् भी शत्रु-मित्र की व्यवस्था (कल्पना) नहीं रहती — यह दर्शाते हुए कहते हैं :—

जब अनुभव अपना करूँ, हों अभाव रागादि।
मैं ज्ञाता, मेरे नहीं, कोई अरि-मित्रादि॥ २५॥

अन्वयार्थ :- (**यतः**) क्योंकि (**बोधात्मानं**) शुद्ध ज्ञानस्वरूप (**मां**) मुझ आत्मा का (**तत्त्वतः प्रपश्यतः**) वास्तव में अनुभव करानेवाले के (**अत्र एव**) इस जन्म में ही (**रागाद्यः**) राग, द्वेष, क्रोध, मान, मायादिक दोष (**क्षीयन्ते**) नष्ट हो जाते हैं; (**ततः**) इसलिए (**मे**) मेरा (**न कश्चित्**) न कोई (**शत्रुः**) शत्रु है (**न च**) और न कोई (**प्रियः**) मित्र है।

टीका :- यहाँ ही, नहीं कि केवल आगे (अन्य जन्म में) ही, परन्तु इस जन्म में ही (वे) क्षय को प्राप्त होते हैं। वे कौन? रागादि, अर्थात् राग जिसके आदि में हैं, वैसे द्वेषादि (दोष)। क्या करते हुए वे क्षीण होते हैं? तत्त्वतः (परमार्थपने) मुझे देखते- (अनुभवते)। कैसे मुझे? बोधात्मा, अर्थात् ज्ञानस्वरूप (ऐसा मुझे)। यथावत् आत्मा का अनुभव करने पर, रागादि क्षीण होते हैं; इस कारण से न कोई मेरा शत्रु है और (न) कोई मेरा प्रिय, अर्थात् मित्र है॥२५॥

यदित्वमन्यस्य कस्यचिन्न शत्रुर्मित्रं वा तथापि तवान्यः कश्चिद्द-विष्यतीत्याशंक्याह -

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः॥ २६॥

भावार्थ :- *ज्ञानस्वरूप आत्मा को यथार्थस्वरूप से अवलोकते-अनुभवते राग-द्वेषादि दोषों का (भूमिकानुसार) यहाँ ही अभाव होता है; इसलिए ज्ञानी कहता है कि 'इस जगत में मुझे कोई शत्रु-मित्ररूप भासित नहीं होता, अर्थात् वास्तव में कोई किसी का शत्रु-मित्र नहीं हो सकता।' जब आत्मा, प्रबुद्ध होकर यथार्थ वस्तुस्थिति का अनुभव करता है, तब उसकी राग-द्वेषरूप इष्ट-अनिष्ट की कल्पना मिट जाती है और बाह्यसामग्री के साधक -बाधक बनते जीवों के प्रति, उसको उपेक्षाबुद्धि रहती है; इसलिए वह न तो किसी को शत्रु समझता है अथवा न किसी को मित्र मानता है। इस प्रकार आत्मस्वरूप की भावना के बल से, उसके राग-द्वेषादि का नाश होने पर, उसको किसी के प्रति शत्रु-मित्रपना नहीं रहता।*

विशेष स्पष्टीकरण -

ज्ञानभावनारूप से परिणमित ज्ञानी विचारता है कि — 'निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ, उस स्वभाव में रहता हुआ, उसमें-उस चैतन्य-अनुभव में लीन होता हुआ मैं, इन क्रोधादिक सर्व आस्रवों का क्षय करता हूँ।'

(श्री समयसार, गाथा-७३)

सारांश यह है कि जब ज्ञानी, अपने आत्मस्वरूप को यथार्थरूप से जानकर, उसमें लीन होता है, तब उसके आस्रवभाव — राग-द्वेषादि विकार स्वयं उत्पन्न नहीं होते — ऐसी स्थिति में उसको कोई शत्रु-मित्र भासित नहीं होता; उसको सभी के प्रति समभाव प्रगट होता है।

भले ही तुम अन्य किसी के शत्रु-मित्र न हो, तो भी अन्य कोई तो तुम्हारा शत्रु-मित्र होगा न? — ऐसी आशङ्का की है, उसका समाधान करते हैं :—

जो मुझको जाने नहीं, नहीं मेरा अरि मित्र।
जो जाने मम आत्म को, नहीं शत्रु नहीं मित्र॥ २६॥

अन्वयार्थ :- **(मां)** मेरे आत्मस्वरूप को **(अपश्यन्)** नहीं देखता हुआ, **(अयं लोकः)** यह अज्ञ प्राणिवृन्द **(न मे शत्रुः)** न मेरा शत्रु है **(न च प्रियः)** और न मित्र है तथा

किं आत्मस्वरूपे प्रतिपन्नेऽप्रतिपन्ने वाऽयं लोको मयि शत्रुमित्रभावंप्रतिपद्यते ? न तावदप्रतिपन्ने। मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः। अप्रतिपन्ने हि वस्तुस्वरूपे रागाद्युत्पत्तावतिप्रसङ्गः। नापि प्रतिपन्ने। यतः मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः। आत्मस्वरूपप्रतीतौ रागादिकप्रक्षयात् कथं क्वचिदपि शत्रुमित्रभावः स्यात् ?॥२६॥

अन्तरात्मनो बहिरात्मत्वत्यागे परमात्मत्वप्राप्तौ चोपायत्वं दर्शयन्नाह -

---

(मां) मेरे आत्मस्वरूप को **(प्रपश्यन्)** देखता हुआ **(अयं लोकः)** यह प्रबुद्ध प्राणिगण, **(न मे शत्रुः)** न मेरा शत्रु है **(न च प्रियः)** और न मित्र है।

टीका :- आत्मस्वरूप समझ में आये या न समझ में आवे, तो भी यह लोक मेरे प्रति शत्रु-मित्रभाव कैसे करे ? प्रथम तो (आत्मस्वरूप) न समझे तो भी वह न करे, क्योंकि यह लोक मुझे देखता नहीं; इसलिए वह मेरा शत्रु नहीं और मेरा मित्र नहीं; जहाँ वस्तुस्वरूप न समझ में आवे, वहाँ भी रागादि की उत्पत्ति हो तो अतिप्रसङ्ग आयेगा।

(वस्तुस्वरूप) समझ में आने पर भी न (कोई मेरा शत्रु-मित्र है), क्योंकि यह (ज्ञानी) लोक, मुझे देखता (जानता) होने से, वह न मेरा शत्रु है, न मेरा मित्र है।

आत्मस्वरूप की प्रतीति होने पर, रागादि का क्षय (अभाव) होने से, कथञ्चित् भी शत्रु-मित्रभाव किस प्रकार हो सकता है ?

भावार्थ :- *अन्तरात्मा समाधान करता है कि 'अज्ञानीजन तो मेरे आत्मा को देखते -जानते नहीं। मेरा आत्मस्वरूप अतीन्द्रिय होने से उनकी इन्द्रियों के अगोचर है; इसलिए वे मेरे विषय में शत्रु-मित्र की कल्पना किस प्रकार कर सकते हैं ? वे मेरे जड़शरीर को ही देखते हैं; शरीर से अत्यन्त भिन्न मेरा आत्मा तो दिखता नहीं; अतः भले ही वे मेरे शरीर को शत्रु-मित्र माने; मुझे (मेरे आत्मा को) उससे क्या ?'*

ज्ञानीजन, मेरे शुद्धात्मस्वरूप को यथावत् जानते होने से, उनमें राग-द्वेषादि का अभाव है; इसलिए उनमें मेरे प्रति शत्रु-मित्रभाव किस प्रकार हो सकता है ?

इस प्रकार ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई जीव, मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं।

अन्तरात्मा को, बहिरात्मपने के त्याग का और परमात्मपने की प्राप्ति का उपाय दर्शाते हुए कहते हैं :—

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् (तः)॥ २७॥

एवमुक्तप्रकारेणान्तरात्मव्यवस्थितः सन् बहिरात्मानं त्यक्त्वा परमात्मानं भावयेत्। कथंभूतं? सर्वसंकल्पवर्जितं विकल्पजालरहितं अथवा सर्वसंकल्पवर्जितः सन् भावयेत्॥२७॥

तद्भावनायाः फलं दर्शयन्नाह -

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढ़संस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥ २८॥

यों बहिरातम दृष्टि तज, हो अन्तर-मुख आत्म।
सर्व विकल्प विमुक्त हो, ध्यावे निज परमात्म॥ २७॥

अन्वयार्थ **:-(एवं)** इस प्रकार **(बहिरात्मानं)** बहिरात्मपने को **(त्यक्त्वा)** छोड़कर, **(अंतरात्मव्यवस्थितः)** अन्तरात्मा में स्थित होते हुए **(सर्वसंकल्पवर्जितं)** सर्व सङ्कल्प -विकल्पों से रहित **(परमात्मानं)** परमात्मा को **(भावयेत्)** ध्याना चाहिए।

टीका **:-** इस प्रकार, अर्थात् उक्त प्रकार से अन्तरात्मा में व्यवस्थित होकर और बहिरात्मा का त्याग करके, परमात्मा की भावना करना। कैसा होकर? सर्व सङ्कल्पों से रहित होकर-विकल्पजाल रहित होकर, अर्थात् सर्व सङ्कल्प से मुक्त होकर (परमात्मा की भावना करना) ॥२७॥

भावार्थ **:-** *प्रथम, जीव बहिरात्मपने को छोड़कर, आत्मस्वरूप के सन्मुख होने पर, अन्तरात्मा होता है; तत्पश्चात् क्रम-क्रम से पुरुषार्थ बढ़ाकर, सर्व विकल्पों से रहित होकर, ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मा की आराधना करता है, अर्थात् उसमें लीन होकर तद्रूप बनने की भावना भाता है — यह परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है।*

उस भावना का फल दर्शाते हुए कहते हैं :—

'मैं ही वह परमात्म हूँ', हों जब दृढ़ संस्कार।
इन दृढ़ भावों से बने, निश्चय उस आकार॥ २८॥

अन्वयार्थ **:-(तस्मिन्)** उस परमात्मपद में **(भावनया)** भावना करते रहने से **(सः**

योऽनन्तज्ञानात्मकः प्रसिद्धः परमात्मा सोऽहमित्येवमात्त-संस्कारः आत्तो गृहीतः संस्कारो वासना येन। कया कस्मिन्? भावनया तस्मिन् परमात्मनि भावनया सोऽहमित्यभेदाभ्यासेन। पुनरित्यन्तर्गर्भितवीप्सार्थः। पुनः पुनस्तस्मिन् भावनया। तत्रैव परमात्मन्येव दृढ़ासंस्कारात् अविचलवासनावशात्। लभते प्राप्नोति ध्याता। हि स्फुटम्। आत्मनि स्थितिं आत्मन्यचलतां अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपतां वा॥२८॥

अहं) वह अनन्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा मैं हूँ **(इति)** इस प्रकार के **(आत्तसंस्कारः)** संस्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष **(पुनः)** फिर-फिर उस परमात्मपद में आत्मस्वरूप की भावना करता हुआ **(तत्रैव)** उसी परमात्मस्वरूप में **(दृढ़संस्कारात्)** संस्कार की दृढ़ता हो जाने से **(हि)** निश्चय से **(आत्मनि)** अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में **(स्थितिं लभते)** स्थिरता को प्राप्त होता है।

टीका :- जो अनन्त ज्ञानादिस्वरूप प्रसिद्ध परमात्मा है, वह'मैं हूँ' — ऐसा संस्कार पाकर, अर्थात् ऐसा संस्कार / वासना ग्रहणकरके। किसके द्वारा? किसमें? उसकी भावना द्वारा, अर्थात् परमात्मा की भावना द्वारा-वह 'मैं हूँ' — ऐसे अभेद अभ्यास द्वारा, उसकी बारम्बार भावना से, उसके ही, अर्थात् परमात्मा के ही-दृढ़ संस्कार के कारण, अविचल भावना के कारण-ध्याता वास्तव में आत्मा में स्थिति पाता है-प्राप्त करता है, अर्थात् आत्मा में अचलता व अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूपता प्राप्त करता है॥२८॥

भावार्थ :- *अनन्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा, वही 'मैं हूँ' — ऐसी बारम्बार अभेद भावना भाने से उसके संस्कार दृढ़ होते हैं और वैसे संस्कार के कारण जीव, आत्मस्वरूप में स्थिर होकर, अनन्त चतुष्टयरूप परमपद की प्राप्ति करता है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

जब अन्तरात्मा, स्वसन्मुख होकर अपने को सिद्धसमान शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, सुखधाम और अनन्त चतुष्टयादिरूप ध्याता है-बारम्बार भाता है, तब अभेद अविचलभावना के बल से, वह शुद्धात्मस्वरूप में तन्मय हो जाता है। उस समय उसको अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है। यह परमात्मस्वरूप की दृढ़ भावना का फल है।

'जो परमात्मा है, वही मैं हूँ — ऐसी बारम्बार भावना भाने से, शुद्धस्वात्मा में जो लीनता

नन्वात्मभावनाविषये कष्टपरम्परासद्भावेन भयोत्पत्तेः कथं कस्यचित्तत्र प्रवृत्तिरित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह -

मूढ़ात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः॥ २९॥

मूढ़ात्मा बहिरात्मा। यत्र शरीरपुत्रकलत्रादिषु। विश्वस्तोऽवं-चकाभिप्रायेण विश्वासं प्रतिपन्नः-मदीया येते अहमेतेषामिति बुद्धिं गत इत्यर्थः। ततो नान्यद्भयास्पदं

होती है, वह कोई वचन-अगोचर योग है-समाधिरूप ध्यान है।'

(अध्यात्म रहस्य, श्लोक-५७, पण्डित आशाधरजी)

इस प्रकार परमात्मभावना के दृढ़ संस्कार से आत्मा, परमात्मा हो जाता है।

आत्मभावना के विषय में कष्टपरम्परा के सद्भाव के कारण, भय की उत्पत्ति की सम्भावना रहती है, तो उसमें किसी की किस प्रकार प्रवृत्ति हो — ऐसी आशङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं :—

मोही की आशा जहाँ, नहीं वैसा भय-स्थान।
जिसमें डर उस सम नहीं, निर्भय आत्म-स्थान॥ २९॥

अन्वयार्थ :-(**मूढात्मा**) अज्ञानी बहिरात्मा (**यत्र**) जिन शरीर-पुत्र-मित्रादि बाह्यपदार्थों में (**विश्वस्तः**) 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' — ऐसा विश्वास करता है, (**ततः**) उन शरीर-स्त्री-पुत्रादि बाह्यपदार्थों से, (**अन्यत्**) अन्य कोई (**भयास्पदं न**) भय का स्थान नहीं है और (**यतः**) जिस परमात्मस्वरूप के अनुभव से (**भीतः**) डरा रहता है, (**ततः अन्यत्**) उसके सिवाय कोई दूसरा (**आत्मनः**) आत्मा के लिए (**अभयस्थानं न**) निर्भयता का स्थान नहीं है।

टीका :- मूढ़ात्मा, अर्थात् बहिरात्मा, जहाँ, अर्थात् शरीर पुत्र-स्त्री आदि में विश्वास करता है-अवंचक अभिप्राय से (वे मुझे ठगेंगे नहीं — ऐसे अभिप्राय से) विश्वास पाता है — '**वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ**' — ऐसी अभेदबुद्धि करता है - ऐसा अर्थ है। उनसे दूसरा कोई भय का स्थान नहीं है। उनसे, अर्थात् शरीरादि से दूसरा भय का स्थान, अर्थात् संसारदुःख के त्रास का स्थान नहीं है।

ततः शरीरादेर्नान्यद्भयास्पदं संसारदुःखत्रासस्यास्पदं स्थानम्। यतो भीतः परमात्म-स्वरूपसंवेदनाद्भीतः त्रस्तः। ततो नान्यदभयस्थानं ततः स्वसंवेदनात् नान्यत् अभयस्य संसारदुःखत्रासाभावस्य स्थानमास्पदम्। सुखास्पदं ततो नान्यदित्यर्थः॥२९॥

जिससे भय पाता है — जिससे, अर्थात् परमात्मस्वरूप के संवेदन से भय पाता है-त्रास पाता है; उससे दूसरा कोई अभयस्थान नहीं है — उससे, अर्थात् स्वसंवेदन से दूसरा, अभय का-संसारदुःख के त्रास के अभाव का स्थान नहीं है। उससे दूसरा (अन्य) सुख का स्थान नहीं है — ऐसा अर्थ है॥२९॥

भावार्थ :- *शरीर-पुत्रादि जो भय का स्थान है-दुःख का कारण है; उनमें बहिरात्मा, आत्मबुद्धि करके विश्वास करता है और परमात्मस्वरूप जो निर्भयस्थान है, परमशरणरूप है और सुख का कारण है, उसके संवेदन को कष्टरूप मानकर डरता है।*

अज्ञानी, बाह्य शरीरादि में सुख मानकर, उनमें निःशङ्कपने प्रवर्तता है परन्तु वास्तव में वे मृगजल के समान हैं, उनमें कुछ सुख नहीं है; वे किसी को शरण नहीं हैं और न किसी को विश्वास का-अभय का स्थान हैं। एक शुद्धात्मस्वरूप ही अभयरूप है, वही शरण का स्थान है और वही जगत के जीवों की भव-भय में से रक्षा करनेवाला परमतत्त्व है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे, पित्तज्वरवाले रोगी को मीठा दूध भी कड़वा लगता है; इसी तरह बहिरात्मा को परमसुखदायी परमात्मस्वरूप की भावना भी कष्टदायी लगती है; इसलिए वह आत्मस्वरूप की भावना को नहीं भाता, अपितु विषय-कषाय की ही भावना भाता है तथा —

'रागादि प्रगट ये दुःखदेन, तिनही को सेवत गिनत चेन'

तथा

'आतमहित-हेतु विराग ज्ञान, ते लखे आपकूं कष्टदान'

(छहढाला, दूसरी ढाल)

रागादि विषय-कषाय, आत्मा को अहितरूप हैं-दुःखदायक हैं तो भी अज्ञानी उनमें हित मानकर-सुख मानकर प्रवर्तता है और ज्ञान-वैराग्य जो आत्मा को हितकर हैं, उन्हें अहितरूप-कष्टरूप मानता है। और भी.....

तस्यात्मनः कीदृशः प्रतिपत्त्युपाय इत्याह -

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥ ३०॥

अज्ञानी जीव को लक्ष्य करके श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है कि अरे जीव!

'अनंत सुख नाम दुःख, त्यां रही न मित्रता,
अनंत दुःख नाम सुख, प्रेम त्यां विचित्रता !
उघाड़ ज्ञान नेत्र को, निहाल रे! निहाल तू,
निवृत्ति शीघ्रमेव धारी, अरु प्रवृत्ति वाल तू॥'

''अहा..... जो अनन्त सुख का धाम है — ऐसे चैतन्यस्वभाव में तो तुझको मित्रता न रही, उसमें उत्साह और प्रेम नहीं आया और अनन्त दुःख का धाम — ऐसे जो बाह्य विषय, उनमें तुझे सुखबुद्धि हुई-प्रेम आया-उत्साह आया, यह कैसी विचित्रता है? अरे जीव! अब तू अपने ज्ञानचक्षु को खोलकर देख! रे देख कि 'तेरा स्वभाव, दुःखरूप नहीं, अपितु बाह्यविषयों की ओर का तेरा झुकाव एकान्त दुःखरूप है; उसमें स्वप्न में भी सुख नहीं है।' इस प्रकार विवेक से विचार कर तू अपने अन्तरस्वभाव के सन्मुख ढल और बाह्यविषयों में सुखबुद्धि छोड़कर, उनसे निवृत्त हो, निवृत्त हो! नित्य निर्भय स्थान और सुख का धाम तो तेरा आत्मा ही है।''

इसलिए शुद्धात्मस्वरूप के स्वसंवेदन सिवाय अन्य कोई अभयस्थान नहीं है। संसार दुःख के त्रास के अभाव का वह एक ही स्थान है, अर्थात् सुख का वह एक ही स्थान है; शरीर-पुत्रादि बाह्य पदार्थ-कोई सुख के स्थान नहीं हैं।

उस आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय कैसा है? - वह कहते हैं :—

इन्द्रिय विषय विरक्त हो, स्थिर हो निज में आत्म।
उस क्षण जो अनुभव वही, है निश्चय परमात्म॥ ३०॥

अन्वयार्थ :- **(सर्वेन्द्रियाणि)** सम्पूर्ण पाँचों इन्द्रियों को **(संयम्य)** अपने विषयों में यथेष्ट प्रवृत्ति करने से रोककर **(स्तिमितेन)** स्थिर हुए **(अन्तरात्मना)** अन्तःकरण के द्वारा **(क्षणं पश्यतः)** क्षणमात्र के लिए अनुभव करनेवाले जीव के **(यत्)** जो चिदानन्दस्वरूप

संयम्य स्वविषये गच्छन्ति निरुध्य। कानि? सर्वेन्द्रियाणि पञ्चापीन्द्रियाणि। तदनन्तरं स्तिमितेन स्थिरीभूतेन। अन्तरात्मना मनसा। यत्स्वरूपं भाति। किं कुर्वतः? क्षणं पश्यतः क्षणमात्रमनुभवतः बहुतरकालं मनसा स्थिरीकर्तुमशक्यत्वात् स्तोककालं मनो निरोधं कृत्वा पश्यतो यच्चिदानन्दस्वरूपं प्रतिभाति तत्तत्त्वं तद्रूपं तत्त्वं स्वरूपं परमात्मनः ॥३०॥

कस्मिन्नाराधिते तत्स्वरूपंप्राप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह -

(भाति) प्रतिभासित होता है, **(तत्)** वही **(परमात्मनः)** परमात्मा का **(तत्त्वं)** स्वरूप है।

टीका :- अपने-अपने विषयों में जाती-प्रवर्तती। कौन (प्रवर्तती)? सर्व इन्द्रियाँ, अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ; उन्हें रोककर-निरोध कर, तत्पश्चात् स्थिर हुए अन्तरात्मा द्वारा, अर्थात् मन द्वारा जो स्वरूप भासता है; क्या करते हुए? क्षणमात्र देखते-क्षणमात्र अनुभवते, अर्थात् बहुत काल तक मन को स्थिर करना अशक्य होने से, थोड़े काल तक मन का निरोध करके देखने पर-जो चिदानन्दस्वरूप प्रतिभासता है, वह परमात्मा का तत्त्व-तद्रूप तत्त्व -स्वरूप है ॥३०॥

भावार्थ :- *सर्व इन्द्रियों के विषयों में भ्रमती-प्रवर्तती चित्तवृत्ति को रोककर, अर्थात् अन्तर्जल्पादि सङ्कल्प-विकल्पों से रहित होकर, उपयोग को अपने चिदानन्दस्वभाव में स्थिर करना। उसके आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर, परमात्मस्वरूप का प्रतिभास होता है।*

पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर का झुकाव छोड़कर और मन के सङ्कल्प-विकल्पों को तोड़कर, ज्ञानानन्दस्वभाव में एकाग्र होना-स्थिर होना, वह परमात्म-प्राप्ति का उपाय है।

विशेष स्पष्टीकरण-

आत्मा, अतीन्द्रिय सुख का भण्डार है — ऐसी दृष्टि होने पर, राग की-विकल्प की रुचि तथा इन्द्रिय-विषयों की ओर की प्रवृत्ति रुक जाती है। पर-सन्मुख की वृत्ति रुक जाने पर, उपयोग, आत्मस्वरूप में स्थिर होता है और आत्मा के आनन्दकन्द का अनुभव होता है, यह सम्यग्दर्शन है और यही समाधि है; इसके द्वारा ही परमात्मपद प्राप्त होता है।

किसकी आराधना करने से उस स्वरूप की प्राप्ति होती है? — ऐसी आशङ्का करके कहते हैं :—

यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥ ३१॥

यः प्रसिद्धः पर उत्कृष्ट आत्मा स एवाहं। योऽहं यः स्वसंवेदनेन प्रसिद्धोऽहमन्तरात्मा स परमः परमात्मा। ततो यतो मया सह परमात्मनोऽभेदस्ततोऽहमेव मया उपास्य आराध्यः। नान्यः कश्चिन्मयोपास्य इति स्थितिः। एवं स्वरूप एवाराध्याराधकभावव्यवस्था॥३१॥

मैं ही वह परमात्म हूँ, हूँ निज अनुभवगम्य।
मैं उपास्य अपना स्वयं, निश्चय है नहीं अन्य॥ ३१॥

अन्वयार्थ : -**(यः)** जो **(परात्मा)** परमात्मा है, **(स एव)** वह ही **(अहं)** मैं हूँ तथा **(यः)** जो स्वानुभवगम्य **(अहं)** मैं हूँ, **(सः)** वही **(परमः)** परमात्मा है, **(ततः)** इसलिए, जबकि परमात्मा और आत्मा में अभेद है, **(अहं एव)** मैं ही **(मया)** मेरे द्वारा **(उपास्य)** उपासना किये जाने के योग्य हूँ **(कश्चित् अन्यः न),** दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं **(इति स्थितिः)** — ऐसी वस्तुस्थिति है।

टीका : - जो प्रसिद्ध पर, अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा है, वह ही मैं हूँ। जो मैं, अर्थात् जो स्वसंवेदन से प्रसिद्ध मैं अन्तरात्मा-वह परम, अर्थात् परमात्मा है। मेरे साथ परमात्मा का अभेद है; इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना करने योग्य-आराधना योग्य हूँ; अन्य कोई मेरे द्वारा उपासनेयोग्य नहीं है — ऐसी स्थिति है, अर्थात् ऐसा स्वरूप ही है। ऐसी आराध्य-आराधक की व्यवस्था है॥३१॥

भावार्थ : - *अन्तरात्मा विचारता है कि 'मेरा अन्तरात्मा स्वसंवेदन से प्रसिद्ध है; वास्तव में वह अरहन्त और सिद्ध के समान है, अर्थात् परमात्मा है। उसको अभेदपने उपासना करने से, मैं स्वयं ही परमात्मा हो सकूँ, वैसा है; इसलिए मैं ही (मेरा शुद्धात्मा ही) मेरा स्वयं का उपास्य हूँ; अन्य कोई उपासना करनेयोग्य नहीं है। मैं स्वयं ही उपास्य और उपासक हूँ।'*

विशेष स्पष्टीकरण -

श्री प्रवचनसार, गाथा-८० में कहा है—

एतदेव दर्शयन्नाह –

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम्॥ ३२॥

'जो जानता अरहन्त को, गुण द्रव्य रु पर्यायपने।
वह जीव जाने आत्म को, उस मोहक्षय पावे खरे॥'

'वास्तव में जो अरहन्त को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह वास्तव में आत्मा को जानता है क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अन्तर नहीं है।'

जब अन्तरात्मा, अपने को सिद्धसमान शुद्ध, बुद्ध और ज्ञाता-दृष्टारूप अनुभव करता है और अभेद भावना के बल से शुद्धात्मा में तन्मय हो जाता है, तब वह सर्व कर्मबन्धन से मुक्त होकर परमात्मा बन जाता है; इसीलिए स्वयं उपासक और अपना शुद्धात्मस्वरूप उपास्य है — ऐसा समझकर और निर्णय करके, अन्तर्मुख होकर अपने स्वसंवेदनज्ञान द्वारा निज शुद्धात्मा की उपासना करना, परमात्मपद की प्राप्ति का उपाय है।

'सिद्धसमान सदा पद मेरो' सिद्ध के समान ही मेरा स्वरूप शक्तिरूप से परिपूर्ण है। परमात्मपद, बाहर में नहीं है; वह तो मेरे में ही है, निरन्तर ऐसी भावना के बल से आत्मा, परमात्मा बन सकता है — ऐसी उसकी शक्ति है। जो उस शक्ति का श्रद्धा-ज्ञान करता है, वही अपने शुद्धात्मा में रमणता करके, परमात्मपद को प्राप्त करता है।

यही आराध्य-आराधकभाव की व्यवस्था का स्वरूप है।

वही बताकर कहते हैं :—

निज में स्थित निज आत्म कर, कर मन विषायातीत।
पाता निजबल आत्म वह, परमानन्द पुनीत॥ ३२॥

अन्वयार्थ :- **(मां)** मुझे-मेरे आत्मा को **(विषयेभ्यः)** पञ्चेन्द्रियों के विषयों से **(प्रच्याव्य)** हटाकर, **(मया एव)** मेरे द्वारा ही-अपने ही आत्मा द्वारा **(अहं)** मैं **(मयि स्थितं)** मुझ में स्थित **(परमानन्दनिर्वृत्तम्)** परमानन्द से परिपूर्ण **(बोधात्मानम्)** ज्ञानस्वरूप आत्मा को **(प्रपन्नोऽस्मि)** को प्राप्त हुआ हूँ।

मामात्मानमहं प्रपन्नः प्राप्तोऽस्मि भवामि। किं कृत्वा? प्रच्याव्य व्यावर्त्य केभ्यः? विषयेभ्यः। केन कृत्वा? मयैवात्मस्वरूपेणैव करणात्मना। क्व स्थितं मां प्रपन्नोऽहं? मयि स्थितं आत्मस्वरूप एव स्थितम्। कथम्भूतं मां? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपम्। पुनरपि कथम्भूतम्? परमानन्दनिर्वृतं परमश्चासावानन्दश्च सुखं तेन निर्वृत्तं सुखीभूतम्। अथवा परमानन्द-निर्वृतोऽहम्॥३२॥

टीका :– मैं मुझको, अर्थात् मेरे आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ। क्या करके? (मेरे आत्मा को) छुड़ाकर–वापस हटाकर; किससे? विषयों से। किस द्वारा करके? मेरे ही द्वारा, अर्थात् करण (साधन) रूप आत्मस्वरूप द्वारा ही; कहाँ रहे हुए ऐसे मुझे मैं प्राप्त हुआ हूँ? मेरे में रहे हुए को, अर्थात् आत्मस्वरूप में ही रहे हुए को। कैसे मुझे? बोधात्मा को, अर्थात् ज्ञानस्वरूप को। फिर कैसे मुझे? परम आनन्द से निर्वृत्त (रचित) को। परम आनन्द, अर्थात् सुख, उससे निर्वृत्त (रचित) सुख हुए को (ऐसे मुझे, अर्थात् आत्मा को प्राप्त हुआ हूँ); अथवा मैं परम आनन्द से निर्वृत्त (परिपूर्ण) हूँ॥३२॥

भावार्थ :– *बाह्य इन्द्रियों के विषयों से अपने आत्मा को छुड़ाकर, अपने में रहे हुए परम आनन्द से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा को मैं, मेरे ही पुरुषार्थ से प्राप्त हुआ हूँ।*

विशेष स्पष्टीकरण –

*इस श्लोक में '**मया एव**' और '**मयि स्थित**' ये शब्द बहुअर्थसूचक हैं, जो बताते हैं कि परमात्मपद मेरे में–आत्मा में है; अन्यत्र बाहर कहीं नहीं है और वह पद, मैं आत्मसन्मुख होकर पुरुषार्थ करूँ तो ही प्राप्त होता है; अन्य किसी बाह्यसाधन से या किसी की कृपा से वह प्राप्त नहीं होता। 'परमात्मपद की प्राप्ति के लिए वह, स्वावलम्बन का ग्रहण और परावलम्बन का त्याग सूचित करता है।'*

आचार्य ने दर्शाया है कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति मैंने, मेरे आत्मबल द्वारा ही की है; इस प्रकार अपना आत्मवैभव बताकर, मुमुक्षु जीवों को प्रेरणा की है कि 'तुम भी स्वतः, अर्थात् अपनी आत्मसामर्थ्य से ही परमपद की प्राप्ति करो।'

आत्मा और परपदार्थों को (इन्द्रियों के विषयों को) भिन्न करने में और आत्मा को ग्रहण करने में करण (साधन) अलग नहीं हैं; प्रज्ञा एक ही करण है, उसके द्वारा ही आत्मा को भिन्न

एवमात्मानं शरीराद्भिन्नं यो न जानाति तं प्रत्याह -

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः॥ ३३॥

यः प्रतिपन्नाद् देहात्परं भिन्नमात्मानमेवमुक्तप्रकारेण न वेत्ति। किं विशिष्टम्? अव्ययं अपरित्यक्तानन्तचतुष्टयस्वरूपम्। स प्रतिपन्नान्न निर्वाणं लभते। किं कृत्वा? तप्त्वाऽपि किं तत्? परमं तपः॥३३॥

किया जाता है और उसके द्वारा ही उसे ग्रहण किया जाता है।

(श्री समयसार, गाथा २९४ व २९६)

यहाँ 'साध्य और साधन एक ही हैं; भिन्न-भिन्न नहीं' — ऐसा बताया है।

इस प्रकार, जो आत्मा को शरीरादि से भिन्न नहीं जानता, उसके प्रति कहते हैं :—

तन से भिन्न-गिने नहीं, अव्ययरूप निजात्म।
करे उग्र तप मोक्ष नहीं, जब तक लखे न आत्म॥ ३३॥

अन्वयार्थ :- **(एवं)** उक्त प्रकार से **(यः)** जो **(अव्ययं)** अविनाशी **(आत्मानं)** आत्मा को **(देहात्)** शरीर से **(परं न वेति)** भिन्न नहीं जानता है, **(सः)** वह **(परमं तपः तप्त्वापि)** घोर तपश्चरण करके भी **(निर्वाणं)** मोक्ष को **(न लभते)** प्राप्त नहीं करता है।

टीका :- जो प्राप्त हुए देह से आत्मा को, इस प्रकार — उक्त प्रकार से भिन्न नहीं जानता; कैसे आत्मा को? अव्यय, अर्थात् जिसने अनन्त चतुष्टयस्वरूप का त्याग नहीं किया, वैसे (आत्मा को); वह प्राप्त हुए देह से निर्वाण नहीं पाता। क्या करके? तपने पर भी, क्या तपकर भी? परमतप को॥३३॥

भावार्थ :- *जो जीव, अविनाशी आत्मा को देह से भिन्न नहीं जानता-अनुभव नहीं करता, वह घोर तप करे तो भी सम्यक्त्व अथवा निर्वाण को प्राप्त नहीं करता।*

आत्मा, अविनाशी चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दमय है और शरीर, इन्द्रियादि अचेतन-जड़ हैं, दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं; इस प्रकार जो जीव नहीं जानता, वह अज्ञानी है, स्व-पर के भेदविज्ञान से रहित है। शरीरादि की, जड़ की क्रिया, जीव कर सकता है — ऐसा मानकर, वह राग-द्वेष करता है और इससे घोर तप करने पर भी वह, धर्म को प्राप्त नहीं कर पाता है।

ननु परमतपोऽनुष्ठायिनां महादुःखोत्पत्तितो मनः खेदसद्भावात्कथं निर्वाणप्राप्तिरिति वदन्तं प्रत्याह -

आत्म-देहान्तर-ज्ञान-जनिताह्लाद-निर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते॥ ३४॥

आत्मा च देहश्च तयोरन्तरज्ञानं भेदज्ञानं तेन जनितश्चासावाल्हादश्च परमप्रसत्तिस्तेन

विशेष स्पष्टीकरण -

ज्ञानस्वरूप आत्मा के भान बिना, जीव भले ही व्रत, तप, नियम शीलादि का आचरण करे, तो भी वह कर्मबन्धन से नहीं छूटेगा-निर्वाण को प्राप्त नहीं होगा।

(श्री समयसार, गाथा १५२ व १५३)

आत्मज्ञान के बिना, अज्ञानी जो तपादि करता है, वह सब कायक्लेश है; उनसे चैतन्य की शान्ति का वेदन नहीं है। वस्तुतः वह तप नहीं, किन्तु ताप है-क्लेश है। उससे कभी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, परन्तु जिससे चैतन्य का प्रतपन हो, चैतन्य के आनन्द का अनुभव हो, वही वास्तविक तप है; उससे ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

इसलिए प्रथम, भेदज्ञान द्वारा स्वात्मा का ही अवलम्बन करके, उसमें ही लीनता करना, यह एक ही निर्वाण प्राप्ति का उपाय है; अन्य सभी उपाय मिथ्या हैं, दुःखदायक और संसार के कारण हैं।

परम तप करनेवालों को महादुःख की उत्पत्ति होने से तथा मन में खेद होने से निर्वाण की प्राप्ति कैसे सम्भव है ? — ऐसी शङ्का करनेवाले के प्रति कहते हैं :—

भेदज्ञान बल है जहाँ, प्रगट आत्म आह्लाद।
हो तप दुष्कर घोर पर, होता नहीं विषाद॥ ३४॥

अन्वयार्थ :- **(आत्मदेहांतरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः)** आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान से उत्पन्न हुए आनन्द से जो आनन्दित है, वह **(तपसा)** तप के द्वारा-द्वादश प्रकार के तप द्वारा उदय में लाए हुए **(घोरं दुष्कृतं)** भयानक दुष्कर्मों के फल को **(भुञ्जानः अपि)** भोगता हुआ भी **(न खिद्यते)** खेद को प्राप्त नहीं होता है।

टीका :- आत्मा और देह — इन दोनों के अन्तरज्ञान-भेदज्ञान से जो आह्लाद, अर्थात्

निर्वृतः सुखीभूतः सन् तपसा द्वादशविधेन कृत्वा। दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि दुष्कर्मणो रौद्रस्य विपाकमनुभवन्नपि न खिद्यते न खेदं गच्छति॥३४॥

परम प्रसन्नता (प्रशान्ति) उत्पन्न होती है, उससे आनन्दित, अर्थात् सुखी होकर, बारह प्रकार के तपों द्वारा घोर दुष्कर्म को भोगता होने पर भी, अर्थात् भयानक दुष्कर्म के विपाक को (फल को) अनुभवता होने पर भी, वह खिन्न नहीं होता–खेद को प्राप्त नहीं होता॥३४॥

भावार्थ :- *जिसको आत्मा और शरीर का भेदज्ञान वर्तता है, वह चैतन्यस्वरूप में एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनन्द में झूलता होने से, उसको सहज उपवासादि बारह प्रकार के तप होते हैं। उनसे उसके मन में खेद नहीं होता और तपश्चरण के काल में घोर दुष्कर्म के फलस्वरूप बाह्य रोगादि अथवा उपसर्गादिक के कारण उपस्थित होने पर भी, उसके आनन्द में बाधा नहीं आती, अर्थात् वह खेद–खिन्न नहीं होता।*

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे — सुवर्ण, अग्नि से तप्त होने पर भी, अपने सुवर्णपने को नहीं छोड़ता; इसी तरह ज्ञानी, कर्म के उदय से तप्त होने पर भी, अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता।

(श्री समयसार, गाथा-१८४)

साधक की निचलीदशा में सम्यग्दृष्टि को रोग, उपसर्गादिक आ पड़ें तो अस्थिरता के कारण उसको थोड़ी आकुलता होती है और वह उनके प्रतिकार की इच्छा भी करता है परन्तु श्रद्धा–ज्ञान में शरीर के प्रति ममत्वभाव का अभाव होकर (होने से), उसको उनका स्वामित्व नहीं होता; वह तो मात्र उनका ज्ञाता–दृष्टा रहता है; इसलिए स्वभावदृष्टि के बल से वह, जैसे–जैसे आत्मस्वरूप में स्थिरता पाता है; वैसे–वैसे उसके वीतरागता बढ़ती जाती है और राग–द्वेषादि का अभाव होता जाता है; अतः जितने अंश में वीतरागता प्रगट होती है, उतने अंश में आकुलता का अभाव होता है — ऐसा समझना।

स्वरूप में ठहरना और चैतन्य का निर्विकल्परूप से प्रतपन होना, अर्थात् आत्मा की शुद्धपर्याय में वीर्य का उग्र प्रतपन, वह तप है। — ऐसी समझ और स्वरूपाचरण के कारण ज्ञानी, उदय में आये हुए प्रतिकूल संयोगों से खेद–खिन्न नहीं होता।*

---

* सहज निश्चयनयात्मक परमस्वभाव स्वरूप परमात्मा में प्रतपन, वह तप है; निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज निज चारित्र, इस तप से होता है।' -***श्री नियमसार, गाथा ५१-५५ की टीका।***

खेदं गच्छतामात्मस्वरूपोपलम्भाभावं दर्शयन्नाह -

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः॥ ३५॥

रागद्वेषादय एव कल्लोलास्तैरलोलमचञ्चलमकलुषं वा। यन्मनोजलं मन एव जलं मनोजलं यस्य मनोजलम् यन्मनोजलम्। स आत्मा। पश्यति। आत्मनस्तत्त्वमात्मनः स्वरूपम्। स तत्त्वम्। स आत्मदर्शी तत्त्वं परमात्मस्वरूपम्। नेतरो जनः रागादि परिणतः (अन्यः अनात्मदर्शी जनः) तत्त्वं न भवति॥३५॥

मुनि, मन-वचन-काय की निश्चल गुप्ति द्वारा आत्मध्यान में इतने लीन हो जाते हैं कि उनकी स्थिरमुद्रा देखकर, पशु उनके शरीर को पत्थर समझकर खुजली खुजाते हैं, तथापि वे अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं। ***(छहढाला, ६/५)***

इसलिए अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते ज्ञानियों को तपश्चर्यादि का कष्ट नहीं लगता।

खेद पानेवालों को आत्मस्वरूप की प्राप्ति का अभाव दर्शाते हुए कहते हैं कि :—

चञ्चल चित्त लहे न जब, राग रु द्वेष हिलोर।
आत्म-तत्त्व वह ही लखे, नहीं क्षुब्ध नर ओर॥ ३५॥

अन्वयार्थ :- **(यन्मनोजलम्)** जिसका मनरूपी जल **(राग-द्वेषादिकल्लौलैः)** राग -द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि तरङ्गों से **(अलोलं)** चञ्चल नहीं होता, **(सः)** वही पुरुष, **(आत्मनः तत्त्वम्)** आत्मा के यथार्थस्वरूप को **(पश्यति)** देखता है-अनुभव करता है; **(सः तत्त्वम्)** उस आत्मतत्त्व को **(इतरो जनः)** दूसरा राग-द्वेषादि कल्लोलों से आकुलितचित्त मनुष्य **(न पश्यति)** नहीं देख सकता है।

टीका :- राग-द्वेषादि, ये ही कल्लोल (तरङ्गें) हैं, उनसे अलोल-अचञ्चल-अकलुष जिसका मनरूपी जल है (मन, वही जल-वही मनोजल, जिसका मनोजल है) वह आत्मा, आत्मा के तत्त्व को, अर्थात् परमात्मस्वरूप को देखता है (अनुभवता है), (उस तत्त्व को) वह, अर्थात् आत्मदर्शी, तत्त्व को, अर्थात् परमात्मस्वरूप को अनुभवता है; अन्य कोई जन, अर्थात् रागादिपरिणत अन्य (अनात्मदर्शी) जन, तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकता॥३५॥

भावार्थ :- *जिसका मन, राग-द्वेषादि विकल्पों से आकुलित / चलित नहीं होता, वह*

किं पुनस्तत्त्वशब्देनोच्यत इत्याह -

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः॥ ३६॥

आत्मा के यथार्थ स्वरूप को — परमात्मस्वरूप को अनुभवता है; अन्य कोई राग-द्वेषादि से आकुलित-अनात्मदर्शी जन, उसका अनुभव नहीं कर सकते।

जैसे, तरङ्गों से उछलते हुए पानी में अन्दर रही हुई वस्तु दिखलायी नहीं देती; इसी प्रकार राग-द्वेषादिरूप तरङ्गों से विकल्पों से चञ्चल बने हुए मनरूपी जल में, अर्थात् ज्ञानजल में, आत्मतत्त्व दिखलायी नहीं देता। निर्विकल्पदशा में ही आत्मदर्शन होता है; सविकल्पदशा में आत्मानुभव नहीं होता।

विशेष स्पष्टीकरण -

वस्तुस्वरूप समझकर, अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव के सन्मुख होने पर, राग-द्वेषादि विकल्प स्वयं शान्त हो जाते हैं। उनको शान्त करने के लिए आत्मसन्मुखता के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। उपयोग अन्तर्मुख होने पर, राग-द्वेषादि का अभाव होता है; निर्विकल्पदशा प्रगट होती है और परमात्मतत्त्व का आनन्द अनुभव में आता है। उस समय बाहर की कैसी भी अनुकूलता या प्रतिकूलता हो तो भी चित्त मलिन नहीं होता — ऐसा जीव, स्वरूप में लीन होकर अकथ्य आनन्द-शान्ति अनुभवता है परन्तु बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्ट की कल्पना से जिसका चित्त, राग-द्वेषादि कषायों से आकुलित होता है, उसको शुद्धात्मा का आनन्द नहीं आता, अर्थात् उसको शुद्धात्मस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।

फिर तत्त्व शब्द से क्या कहना चाहते हैं? — वह कहते हैं :—

निश्चल मन ही तत्त्व है, चञ्चलता निज-भ्रान्ति।
स्थिर में स्थिरता राखि, तज अस्थिर मूल अशान्ति॥ ३६॥

अन्वयार्थ :- (**अविक्षिप्तं**) रागादि परिणति से रहित तथा शरीर और आत्मा को एक माननेरूप मिथ्याअभिप्राय से रहित, जो स्वरूप में स्थिर है, (**मनः**) वही मन है, (**आत्मनः तत्त्वं**) आत्मा का वास्तविक रूप है और (**विक्षिप्तं**) रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा आत्मा के भेदज्ञान से शून्य मन है, वह (**आत्मनः भ्रान्तिः**) आत्मा का विभ्रम है; आत्मा

अविक्षिप्तं रागाद्यपरिणतं देहादिनाऽऽत्मनोऽभेदाध्यवसायपरिहारेण स्वस्वरूप एव निश्चलतां गतम्। इत्थंभूतं मनः तत्त्वं वास्तवं रूपमात्मनः विक्षिप्तं उक्तविपरीतं मनो भ्रान्तिरात्मस्वरूपं न भवति। यत एवं तस्मात् धारयेत् किं तत्? मनः। कथम्भूतम्? अविक्षिप्तं। विक्षिप्तं पुनस्तत् नाश्रयेन्न धारयेत्॥३६॥

का निजरूप नहीं है; **(ततः)** इसलिए तत् **(अविक्षिप्तं)** उस राग-द्वेषादि से रहित मन को **(धारयेत्)** धारण करना चाहिए और **(विक्षिप्तं)** राग-द्वेषादि से क्षुब्ध हुए मन को **(न आश्रयेत्)** आश्रय नहीं देना चाहिए।

टीका :- अविक्षिप्त, अर्थात् रागादि से अपरिणत; देहादिक के साथ आत्मा के अभेद (एकरूप) के अध्यवसाय (मिथ्याअभिप्राय) का परिहार करके, स्व-अनुभव में ही निश्चल (स्थिर) हो गया हुआ — ऐसा मन, वह आत्मतत्त्व, अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। विक्षिप्त, अर्थात् ऊपर कहा उससे विपरीत (अर्थात्, रागादि से परिणत तथा देह और आत्मा के भेदज्ञान से रहित) मन, वह (आत्म) भ्रान्ति है; वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; इसलिए उसको (अविक्षिप्त मन को) धारण करना। उसको, अर्थात् किसको? मन को; कैसे (मन को)? अविक्षिप्त (मन को); परन्तु उस विक्षिप्त (मन को) धारण नहीं करना-उसका आश्रय नहीं करना॥३६॥

भावार्थ :- *जो मन, राग-द्वेष से विक्षिप्त नहीं होता, आकुलित नहीं होता, देहादिक में आत्मबुद्धि नहीं करता और आत्मस्वरूप में निश्चल रहता है, वह आत्मतत्त्व है; आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। जो मन, राग-द्वेषादिरूप परिणमता है-उनसे विक्षिप्त होता है, देह और आत्मा के भेदज्ञान से रहित है और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता, वह आत्मभ्रान्ति है, आत्मा का निजरूप नहीं; इसलिए अविक्षिप्त मन, आत्मतत्त्व होने से प्रगट करनेयोग्य है और विक्षिप्त मन, आत्मतत्त्व नहीं होने से हेय है-त्यागने योग्य है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

प्रथम, स्व-पर का भेदज्ञान करके, परपदार्थों में इष्टानिष्टपने की कल्पना का त्याग करना, राग-द्वेषादि के कारणों की ओर उपेक्षाबुद्धि करना और भावश्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करना। इससे परपदार्थों के सम्बन्धी सब सङ्कल्प-विकल्प शान्त हो जायेंगे, मन अविक्षिप्त बनेगा

कुतः पुनर्मनसो विक्षेपो भवति कुतश्चाविक्षेप इत्याह -

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते॥ ३७॥

शरीरादौ शुचिस्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्तासामभ्यासः पुनः पुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिताः संस्कारा वासनास्तैः कृत्वा। अवशं विषयेन्द्रियाधीनमनात्मायत्तमित्यर्थः।

और आत्मस्वरूप में स्थिर होगा। आचार्यों ने ऐसे अविक्षिप्त भावमन को ही प्रगट करने का उपदेश दिया है, क्योंकि वह आत्मतत्त्व है और वही मोक्ष का कारण है।

जो ज्ञान का उपयोग, रागादि विकल्पों में तथा परपदार्थों में रुकता है, वह ज्ञान नहीं है परन्तु जो ज्ञान, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित होता है, वही वास्तविक ज्ञान है-आत्मतत्त्व है; इसलिए वह उपादेय है।

जो उपयोग, पर में ही अटका हुआ रहने से आत्मसन्मुख नहीं झुकता, वह पर के झुकाववाला तत्त्व है, आत्मा के झुकाववाला तत्त्व नहीं। उससे संसार है; इसलिए वह हेय है।

फिर, किस कारण से मन का विक्षेप होता है और किस कारण से उसका अविक्षेप होता है ? वह कहते हैं :—

हों संस्कार अज्ञानमय, निश्चय हो मन भ्रान्त।
ज्ञान संस्कृत मन करे, स्वयं तत्त्व विश्रान्ति॥ ३७॥

अन्वयार्थ :- **(अविद्याभ्याससंस्कारैः)** शरीरादिक को शुचि, स्थिर और आत्मीय माननेरूप जो अविद्या / अज्ञान है, उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा **(मनः)** मन **(अवशं)** स्वाधीन न रहकर, **(क्षिप्यते)** विक्षिप्त हो जाता है, रागी-द्वेषी बन जाता है और **(तदेव)** वही मन **(ज्ञानसंस्कारैः)** आत्म-देह के भेद -विज्ञानरूप संस्कारों द्वारा **(स्वतः)** स्वयं ही **(तत्त्वे)** आत्मस्वरूप में **(अवतिष्ठते)** स्थिर हो जाता है।

टीका :- शरीरादि को पवित्र, स्थिर और आत्मीय (अपना) आदि माननेरूप जो अविद्या (अज्ञान), उसका अभ्यास, अर्थात् उसकी बारम्बार प्रवृत्ति से उत्पन्न हुए संस्कारों,

क्षिप्यते विक्षिप्तं भवति मनः। तदेव मनः ज्ञानसंस्कारैरात्मनः शरीरादिभ्यो भेदज्ञानाभ्यासैः। स्वतः स्वयमेव। तत्त्वे आत्मस्वरूपे अवतिष्ठते॥३७॥

अर्थात् वासनाओं – उन द्वारा करके अवश, अर्थात् विषयों और इन्द्रियों के आधीन, अर्थात् अनात्मा के आधीन, वह मन विक्षेप पाता है / विक्षिप्त होता है। वही मन, ज्ञान संस्कारों द्वारा, अर्थात् आत्मा को शरीरादि से भिन्न जाननेरूप अभ्यास द्वारा, स्वतः, अर्थात् स्वयं ही तत्त्व में / आत्मस्वरूप में स्थिर होता है ॥३७॥

भावार्थ :– *शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करना, अज्ञान है–अविद्या है। उसकी पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न हुए संस्कारों से मन, परवश होकर–पराधीन होकर; रागी–द्वेषी बन जाता है, विक्षिप्त होता है। वही मन, भेदज्ञान के संस्कारों से स्वतः, अर्थात् अपने आप आत्मस्वरूप में स्थिर होता है।*

शरीर, जड़ है, अपवित्र है, अस्थिर है और पर है। उसमें आत्मा की कल्पना करके उसको पवित्र, स्थिर और अपना मानना तथा ज्ञान और राग को एक मानना, अर्थात् शुभराग से लाभ मानना, अविद्या है–अज्ञान है। इस अज्ञानता को — विपरीत मान्यता और विपरीत ज्ञान को बारम्बार अन्दर घोटने से और तदनुसार आचरण करने से, वासनारूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। उन संस्कारों से मन अपने वश–स्वाधीन नहीं वर्तता, अपितु परवश बनता है, अर्थात् विषयों और इन्द्रियों के आधीन होकर क्षुब्ध होता है, विक्षिप्त होता है। ऐसा राग–द्वेष से आकुलित मन, बाह्यविषयों में ही प्रवर्तता है; ज्ञानस्वरूप में स्थिर नहीं होता।

मैं, शरीरादि से और राग–द्वेषादि विकारों से भिन्न, पवित्र, स्थिर और ज्ञायकस्वरूप हूँ — ऐसे स्व–पर के भेदविज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञान संस्कारों से वही मन, स्वयं स्वाधीनरूप से–अपने ही आप राग–द्वेषादि से रहित होता है–अविक्षिप्त होता है और आत्मस्वरूप में स्थिर होता है।

विशेष स्पष्टीकरण –

शुद्धात्मा की बारम्बार भावना से ज्ञान के संस्कार उत्पन्न होते हैं। उनसे मन, राग–द्वेष रहित होकर, समाधि में स्थिर होता है।

चित्तस्य विक्षपेऽविक्षेपे च फलं दर्शयन्नाह -

'मैं शुद्धज्ञानस्वरूप परमात्मा हूँ; शरीर-मन-वाणीरूप मैं नहीं, मैं उनसे भिन्न हूँ — ऐसी भावना बारम्बार भाने से, उसके संस्कार दृढ़ होते हैं और वैसे संस्कारों से चैतन्यस्वरूप में स्थिरता प्राप्त होती है।' ***(यही ग्रन्थ, श्लोक-२८)***

इसलिए ज्ञानसंस्कार, समाधि का कारण है और अविद्या का संस्कार, असमाधि का कारण है।

ज्ञानसंस्कारों द्वारा जैसे-जैसे स्वरूप में स्थिरता होती जाती है, वैसे-वैसे राग-द्वेषादि भाव छूटते जाते हैं और वीतरागता बढ़ती जाती है। इसलिए जहाँ तक मन (ज्ञान का उपयोग) बाह्य विषयों से छूटकर, आत्मस्वरूप में स्थिर न हो, वहाँ तक आत्मतत्त्व की भावना करते ही रहना चाहिए।

श्री समयसार, कलश-१३० में कहा है कि :—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युता ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते॥

'यह भेदविज्ञान अविछिन्नधारा के, अर्थात् जिसमें विच्छेद न पड़े — ऐसे अखण्ड प्रवाहरूप से वहाँ तक भाना कि जहाँ तक ज्ञान, परभावों से छूटकर, ज्ञान में ही (अपने स्वरूप में ही) ठहर न जाये।'

'यहाँ ज्ञान का ज्ञान में ठहरना दो प्रकार से जानना — एक तो मिथ्यात्च का अभाव होकर, सम्यग्ज्ञान हो और फिर से मिथ्यात्व न आवे, तब ज्ञान, ज्ञान में ठहरा कहलाता है; दूसरे, जब ज्ञान, शुद्धोपयोगरूप स्थिर हो जाये और फिर अन्य विकाररूप न परिणमें, तब वह ज्ञान में ठहर गया कहलाता है। जहाँ तक दोनों प्रकार से ज्ञान, ज्ञान में न ठहर जाए, वहाँ तक भेदविज्ञान की भावना करना।' ***(श्री समयसार, कलश १३० का भावार्थ)***

*इस श्लोक में '**स्वतः**' शब्द यह अर्थ सूचित करता है कि जीव स्वयं अपने सम्यक् पुरुषार्थ से अपने स्वरूप में स्थिर होता है; अन्य किसी कारण से नहीं।*

मन के विक्षेप का और अविक्षेप का फल बतलाकर कहते हैं :—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः॥ ३८॥

अपमानो महत्त्वखंडनं अवज्ञा च स आदिर्येषां मदेर्ष्यामात्सर्यादीनां ते अपमानादयो भवन्ति। यस्य चेतसो विक्षेपो रागादिपरिणतिर्भवति। यस्य पुनश्चेतसो न क्षेपो विक्षेपो नास्ति। तस्य नापमानादयो भवन्ति॥३८॥

चञ्चल-मन गिनता सदा, मान और अपमान।
निश्चल-मन देता नहीं, तिरस्कार पर ध्यान॥ ३८॥

अन्वयार्थ :- **(यस्य चेतसः)** जिसके चित्त का **(विक्षेपः)** रागादिरूप परिणमन होता है, **(तस्य)** उसी के **(अपमानादयः)** अपमानादिक होते हैं; **(यस्यचेतसः)** जिसके चित्त का **(क्षेपः न)** राग-द्वेषादिरूप परिणमन नहीं होता, **(तस्य)** उसके **(अपमानादयः न)** अपमान-तिरस्कारादि नहीं होते हैं।

टीका :- जिसका मन, विक्षेप पाता है, अर्थात् रागादिरूप परिणमता है, उसको अपमानादि, अर्थात् अपमान / अपने महत्त्व का खण्डन-अवज्ञा; मद, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि होते हैं परन्तु जिसके मन में विक्षेप नहीं होता, उसको अपमानादि नहीं होते॥३८॥

भावार्थ :- *जिसका मन, राग-द्वेषादि विकारों से विक्षिप्त होता है, उसको ही मान -अपमानादि की वृत्ति होती है परन्तु जिसका मन, राग-द्वेषादिरूप नहीं परिणमता, उसको अपमानादि की वृत्ति उद्भवित नहीं होती। वह मान-अपमान में समभावरूप से वर्तत है।*

मोह-राग-द्वेषादि विभावों में वर्तता जीव ही मान-अपमान की कल्पना से दुःखी होता है परन्तु जिसका चित्त, राग-द्वेष-मोहादि विभावों से रहित होकर, अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिर होता है, उसको मान-अपमानादि की कल्पनाएँ उत्पन्न नहीं होतीं, क्योंकि ज्ञानानन्द में लीन होने पर, कौन बहुमान करता है, कौन अपमान करता है ? — ऐसा विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता; वह ज्ञाता-दृष्टारूप रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

'ज्ञानी को शत्रु-मित्र के प्रति; मान-अपमान के प्रसङ्ग में; जीवन अथवा मरण के विषय में और संसार अथवा मोक्ष में समभाव-समदर्शिता वर्तती है।' जैसा कि कहा है—

अपमानादीनां चापगमे उपायमाह -

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्॥ ३९॥

शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता,
मान-अमान में वर्ते ही स्वभाव जब।
जन्म-मरण में हो नहिं न्यून-अधिकता,
भव-मुक्ति में भी वर्ते समभाव जब॥
अपूर्व.........॥

(अपूर्व अवसर, श्रीमद् राजचन्द्र, काव्य-१०)

जो जीव, ज्ञानभावना छोड़कर, अज्ञान से परसंयोग में मान-अपमान की बुद्धि करता है, वह अज्ञानी है। जिसको ज्ञानस्वभाव की भावना नहीं है — ऐसे अज्ञानी को ही बाह्यदृष्टि से एकान्त मान-अपमानरूप परिणमन होता है। ज्ञानी को ज्ञानस्वभाव की भावना में ज्ञान का ही परिणमन होता है; मान-अपमानरूप परिणमन नहीं होता। किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति हो, वहाँ उस वृत्ति को भी ज्ञान से भिन्नरूप ही जानता है और ज्ञानस्वभाव की ही भावना द्वारा, ज्ञान की अधिकतारूप ही परिणमता है।

अपमानादि को दूर करने का उपाय :—

मोह-दृष्टि से जब जगे, मुनि को राग रु द्वेष।
स्वस्थ-भावना आत्म से, मिटे क्षणिक उद्वेग॥ ३९॥

अन्वयार्थ :- (**यदा**) जिस समय (**तपस्विनः**) किसी तपस्वी अन्तरात्मा के (**मोहात्**) मोहनीयकर्म के उदय से (**राग-द्वेषौ**) राग और द्वेष (**प्रजायेते**) उत्पन्न हो जावें, (**तदा एव**) उसी समय वह तपस्वी (**स्वस्थं आत्मानं**) अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की (**भावयेत्**) भावना करे। इससे वे राग-द्वेषादिक (**क्षणात्**) क्षणभर में (**शाम्यतः**) शान्त हो जाते हैं।

टीका :- मोह से, अर्थात् मोहनीयकर्म के उदय के निमित्त से जब पैदा हों-उत्पन्न हों;

मोहान्मोहनीयकर्मोदयात्। यदा प्रजायेते उत्पद्येते। कौ? रागद्वेषौ। कस्य? तपस्विनः। तदैव रागद्वेषोदयकाल एव। आत्मानं स्वस्थं बाह्यविषयाद्व्यावृत्तस्वरूपस्थं भावयेत्। शाम्यत उपशमं गच्छतः। रागद्वेषौ। क्षणात् क्षणमात्रेण॥३९॥

तत्र रागद्वेषयोर्विषयं विपक्षं च दर्शयन्नाह -

कौन (दो)? राग और द्वेष। किसको (उत्पन्न हो)? तपस्वी को। तब ही, अर्थात् राग-द्वेष के उदय काल में ही स्वस्थ आत्मा की, अर्थात् बाह्यविषयों से व्यावृत्त होकर (वापस हटकर) स्वरूप में स्थिर होते हुए आत्मा की भावना करनी। वैसा करने से राग-द्वेष क्षण में -क्षणमात्र में उपशमते हैं-शान्त हो जाते हैं॥३९॥

भावार्थ :- *जब अन्तरात्मा की अस्थिरता के कारण, मोहवश राग-द्वेषादि उत्पन्न हों, तब चित्त को परद्रव्यों से हटाकर, स्वसन्मुख झुकाकर, शुद्धात्मा को भाना। वैसा करने से क्षणमात्र में राग-द्वेषादि शान्त हो जाते हैं।*

भेदविज्ञान द्वारा आत्मा और शरीरादि को भिन्न-भिन्न जानकर, शुद्धात्मा की भावना करना ही राग-द्वेषादि विकारों के अभाव करने का उपाय है।

विशेष स्पष्टीकरण-

सम्यग्दृष्टि जीव को भूमिकानुसार राग-द्वेष होते हैं परन्तु उसको उस समय अन्तर में आत्मा का भेदज्ञान है। वह बाह्य निमित्त और विकार को अपने आत्मस्वरूप से भिन्न मानता है; इसलिए उनको आदरता नहीं है। अवशपने-अस्थिरता के कारण जो राग -द्वेष होते हैं, उनको वह अपना स्वरूप नहीं मानता। उसकी दृष्टि तो अपने स्वरूप की ओर ही है। वह अस्थिरताजन्य राग-द्वेष का अभाव करने के लिए चैतन्यस्वभाव की ही भावना भाता है।

इसलिए सम्यग्दृष्टियों को लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं कि -जब चारित्र की कमजोरी से राग-द्वेषादि विकारी वृत्तियों का उत्थान हो, तब आत्मस्वरूप की भावना करनी। उससे वृत्तियाँ शान्त हो जायेंगी। राग-द्वेषादि के शमन के लिए 'शुद्धात्मा की भावना' — यही एक रामबाण उपाय है।

अब, राग-द्वेष के विषय को तथा विपक्ष को दर्शाते हुए कहते हैं :—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति॥ ४०॥

यत्रात्मीये परकीये वा काये वा शरीरेन्द्रियविषयसङ्घाते। मुनेः प्रेम स्नेहः। ततः तायात् प्रच्याव्य व्यावर्त्य। देहिनं आत्मानम्। कया? बुद्ध्या विवेकज्ञानेन। पश्चात्तदुत्तमे काये तस्मात् प्रागुक्तकायादुत्तमे चिदानन्दमये। काये आत्मस्वरूपे। योजयेत्। कया कृत्वा? बुद्ध्या अन्तर्दृष्ट्या। ततः किं भवति? प्रेम नश्यति कायस्नेहो न भवति॥४०॥

हे मुनि! तन से प्रेम यदि, धारो भेद-विज्ञान।
चिन्मय-तन से प्रेम कर, तजो प्रेम अज्ञान॥ ४०॥

अन्वयार्थ :- **(यत्र काये)** जिस शरीर में **(मुनेः)** मुनि का-अन्तरात्मा का **(प्रेम)** प्रेम-स्नेह है, **(ततः)** उससे **(बुद्ध्या)** भेदविज्ञान के आधार पर **(देहिनम्)** आत्मा को **(प्रच्याव्य)** पृथक् करके, **(तदुत्तमे काये)** उस उत्तम चिदानन्दमय काय में-आत्मस्वरूप में **(योजयेत्)** लगावे — ऐसा करने से **(प्रेम नश्यति)** बाह्य शरीर और इन्द्रिय विषयों में होनेवाला प्रेम नष्ट हो जाता है।

टीका :- जहाँ अपनी व पर की काय में / शरीर में, अर्थात् इन्द्रिय विषय के समूह में मुनि का प्रेम-स्नेह होवे, वहाँ से, अर्थात् शरीर से देही को, अर्थात् आत्मा को व्यावृत्त करके -वापिस मोड़कर; किसके द्वारा? बुद्धि द्वारा-विवेक ज्ञान द्वारा; फिर उत्तम काय में, अर्थात् पूर्व कथित काय की अपेक्षा, उत्तमकाय में-चिदानन्दमय काय में, अर्थात् आत्मस्वरूप में उसको (प्रेम को) जोड़ना। किसके द्वारा? बुद्धि द्वारा-अन्तर्दृष्टि द्वारा। फिर क्या होता है? प्रेम नष्ट होता है, अर्थात् शरीर के प्रति प्रेम नहीं रहता॥४०॥

भावार्थ :- *अन्तरात्मा की चारित्रमोहवश बाह्य शरीरादि तथा इन्द्रियों के विषयों में राग होवे तो भेदविज्ञान द्वारा उपयोग को वहाँ से हटाकर, शुद्धात्मस्वरूप में जोड़ना चाहिए। वैसा करने से शरीरादि के प्रति होनेवाला प्रेम नाश को प्राप्त होता है।*

जिसका उपयोग चैतन्य के आनन्द में लगता है, उसको जगत के सभी पदार्थ नीरस

तस्मिन्नष्टे किं भवतीत्याह -

लगते हैं, शरीरादि बाह्यपदार्थों के प्रति होनेवाला उत्साह उड़ जाता है और वह उस ओर से उदासीन रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

चैतन्यस्वरूप में उपयोग को जोड़ना ही राग-द्वेष के क्षय का उपाय है। इसके अतिरिक्त बाह्यपदार्थों के प्रति झुकाव रखकर, राग-द्वेष का क्षय करना चाहे तो वे कभी क्षय नहीं हो सकते। पहले तो देहादिक से भिन्न और परमार्थ से रागादिक से भी भिन्न — ऐसे चिदानन्दस्वरूप का भान किया हो, उसको ही उसमें उपयोग की लीनता होती है परन्तु जो जीव, देहादिक की क्रिया को अपनी मानता हो अथवा राग से लाभ मानता हो, उसका उपयोग उस देह से और राग से वापस हटकर, चैतन्य में कैसे झुकेगा ? जहाँ लाभ माने, वहाँ से अपने उपयोग को कैसे हटायेगा ? नहीं हटायेगा।

इसलिए उपयोग को अपने चिदानन्दस्वरूप में एकाग्र करने की इच्छावाले को, प्रथम तो अपने स्वरूप को देहादिक से और रागादि से अत्यन्त भिन्न जानना चाहिए। जगत के किसी भी बाह्य विषय में अथवा उस ओर के राग में, कहीं स्वप्न में भी मेरा सुख अथवा शान्ति नहीं हैं; अनन्त काल से बाहर के भाव किये, परन्तु मुझको किञ्चित् भी सुख नहीं मिला। जगत में कहीं मेरा सुख हो तो वह मेरे निज स्वरूप में ही; अन्यत्र कहीं नहीं; इसलिए अब मैं बाहर का उपयोग छोड़कर, निजस्वरूप में ही उपयोग को जोड़ता हूँ — ऐसे दृढ़ निर्णयपूर्वक धर्मीजीव बारम्बार अपने उपयोग को अन्तरस्वरूप में जोड़ता है।

चैतन्यस्वभाव की महत्ता और बाह्य इन्द्रिय विषयों की तुच्छता जानकर, अपने उपयोग को बारम्बार चैतन्यभावना में जोड़ने से, पर के प्रति होनेवाला प्रेम नष्ट होता है और वीतरागी आनन्द का अनुभव होता है।

वह (प्रेम) नष्ट होने पर क्या होता है ? वही कहते हैं :—

आत्मभ्रान्ति से दुःख हो, आत्म-ज्ञान से शान्त।
इस बिन शान्ति न हो भले, कर ले तप दुर्दान्त॥ ४१॥

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति।
नाऽयतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः॥ ४१॥

आत्मविभ्रमजं आत्मनो विभ्रमोऽनात्मशरीरादावात्मेति ज्ञानं। तस्माज्जातं यत् दुःखं तत्प्रशाम्यति। कस्मात्? आत्मज्ञानात् शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपवेदनात्। ननु दुर्धरतपोऽनुष्ठानान्मुक्तिसिद्धेरेतस्तद्दुःखोपशमो न भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह- नेत्यादि। तत्र आत्मस्वरूपे अयताः अयत्नपराः। न निर्वान्ति न निर्वाणं गच्छंति सुखिनो वा न भवन्ति। कृत्वापि तप्त्वाऽपि। किं तत्? परमं तपः दुर्द्धरानुष्ठानम्॥४१॥

अन्वयार्थ :-(**आत्मविभ्रजं**) शरीरादिक में आत्मबुद्धिरूप विभ्रम से उत्पन्न होनेवाला (**दुःखं**) दुख-कष्ट, (**आत्मज्ञानात्**) शरीरादिक से भिन्नरूप आत्मस्वरूप के अनुभव करने से (**प्रशाम्यति**) शान्त हो जाता है। अतएव जो पुरुष, (**तत्र**) भेदविज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति करने में (**अयताः**) प्रयत्न नहीं करते, वे (**परमं**) उत्कृष्ट एवं दुर्द्धर (**तपः**) तप को (**कृत्वापि**) करके भी, (**न निर्वान्ति**) निर्वाण को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होते हैं।

टीका :- आत्मविभ्रम से उत्पन्न हुआ, अर्थात् अनात्मरूप शरीर आदि में आत्मबुद्धि, वह आत्मविभ्रम, उससे उत्पन्न हुआ जो दुःख, वह शान्त होता है। किससे? आत्मज्ञान से, अर्थात् शरीरादि से भेद करके आत्मस्वरूप का वेदन करने से।

दुर्द्धर तप के अनुष्ठान (आचरण) से तो मुक्ति की सिद्धि होने से, उस दुःख का उपशम होगा नहीं — ऐसी आशङ्का करनेवाले को कहते हैं-न इत्यादि.....उसमें, अर्थात् आत्मस्वरूप में यत्न नहीं करनेवाले, निर्वाण प्राप्त नहीं करते, अर्थात् सुखी नहीं होते, क्या करके भी (सुखी नहीं होते)? तप करके भी। क्या तप कर भी? परमतप, अर्थात् दुर्द्धर अनुष्ठान। (अर्थात्, दुर्द्धर तप तपकर भी वे मोक्ष प्राप्त नहीं करते)॥४१॥

भावार्थ :- *आत्मभ्रान्ति से, अर्थात् शरीरादि में आत्मबुद्धि करने से, जो दुःख उत्पन्न होता है, वह भेदज्ञान से नाश को प्राप्त होता है। जो भेदज्ञान के द्वारा आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते, वे घोर तप करने पर भी, मोक्षमार्ग अथवा निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकते।*

विशेष स्पष्टीकरण –

शरीरादि और रागादि में आत्मबुद्धि करना विभ्रम है, आत्मभ्रान्ति है; वह दुःख का कारण है। शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप का अनुभव करने से — स्व-पर का भेदज्ञान करने से, अर्थात् देहादि से और शुभभाव से भी भिन्न, ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही मैं हूँ; अन्य कुछ मेरा नहीं है — ऐसे आत्मज्ञान से यह दुःखरूप भ्रान्ति दूर होती है। जीव ऐसे भेदविज्ञान के प्रयत्न बिना, घोर तप करे तो भी सच्चा धर्म प्राप्त नहीं करता।

मुक्ति-प्राप्ति के लिए आत्मज्ञानपूर्वक किया हुआ 'इच्छा निरोधरूप तप' ही कार्यकारी है। आत्मज्ञान से शून्य तप, वह तप नहीं है; वह तो संसार परिभ्रमण का ही कारण है; उससे कभी भी आत्मा, स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता और न कर्मबन्धन से छूट सकता है। उसकी दुःख परम्परा चालू ही रहती है।

पण्डित श्री टोडरमलजी ने (मोक्षमार्गप्रकाशक में) कहा है कि:—

'जिनमत की तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर चरणानुयोग अनुसार व्रतादि धारण करके व्रती हो... ।'[१]

पण्डित श्री दौलतरामजी ने छहढाला (ढाल ४, पद्य ४ में) कहा है कि :—

'कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे,
ज्ञानी के छिनमाहिं, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते;
मुनिव्रत धार अनंत बार, ग्रीवक उपजायौ,
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ॥'

मिथ्यादृष्टि जीव, आत्मज्ञान के बिना करोड़ों जन्मों तक तप करके, जितने कर्मों का अभाव करता है, उतने कर्मों का नाश, ज्ञानी अपने मन-वचन-काय का निरोध कर क्षणमात्र में सहज कर देता है। आत्मज्ञान बिना, पाँच महाव्रत पालन कर-मुनि होकर वह नौवें ग्रैवेयक तक देवलोक में अनन्त बार गया, परन्तु जरा भी सुख प्राप्त नहीं किया।

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अध्याय, पृष्ठ २९३

तच्च कुर्वाणो बहिरात्मा अन्तरात्मा च किं करोतीत्याह -

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नाऽऽत्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्॥ ४२॥

देहे उत्पन्नात्ममतिर्बहिरात्मा। अभिवाञ्छति अभिलषति। किं तत्? शुभं शरीरं। दिव्यांश्च उत्तमान् स्वर्गसम्बन्धिनो वा विषयान् अन्तरात्मा किं करोतीत्याहतत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्। तत्त्वज्ञानी विवेकी अन्तरात्मा। ततः शरीरादेः। च्युतिं व्यावृत्तिं मुक्तिरूपां अभिवाञ्छति॥४२॥

'अज्ञानी जीव की क्रिया, संसार के लिए सफल है और मोक्ष के लिए निष्फल है तथा ज्ञानी की जो धर्मक्रिया है, वह संसार के लिए निष्फल है और मोक्ष के लिए सफल है।'[१]

वह (तपश्चर्या) करनेवाला अन्तरात्मा और बहिरात्मा क्या करता है? सो कहते हैं:—

तन तन्मय ही चाहता, सुन्दर-तन सुर-भोग।
ज्ञानी चाहे छूटना, विषय-भोग संयोग॥ ४२॥

अन्वयार्थ :-(**देहे उत्पन्नात्ममतिः**) शरीर में जिसको आत्मत्वबुद्धि उत्पन्न हो गयी है — ऐसा बहिरात्मा, तप करके (**शुभं शरीरं च**) सुन्दर शरीर और (**दिव्यान् विषयान्**) उत्तमोत्तम अथवा स्वर्ग के विषय भोगों को (**अभिवाञ्छति**) चाहता है और (**तत्त्वज्ञानी**) ज्ञानी अन्तरात्मा (**ततः**) शरीर और तत्सम्बन्धी विषयों से (**च्युतिम्**) छूटना चाहता है।

टीका :- जिसको देह में आत्मबुद्धि उत्पन्न हुई है, वह बहिरात्मा वाँछा करता है- अभिलाषा करता है। किसकी (वाँछा करता है)? शुभ (सुन्दर) शरीर और दिव्य, अर्थात् उत्तम स्वर्ग सम्बन्धी विषयों की (दिव्य विषय भोगों की) अभिलाषा करता है।

अन्तरात्मा क्या करता है? वह कहते हैं :—

तत्त्वज्ञानी, उनसे च्युति (छूटना) चाहता है। तत्त्वज्ञानी, अर्थात् विवेकी अन्तरात्मा; उनसे, अर्थात् शरीरादि से मुक्तिरूप (छुटकारारूप) च्युति की, अर्थात् व्यावृत्ति की वाँछा करता है॥४२॥

---

१. श्री प्रवचनसार, गाथा-११६ की टीका

भावार्थ :– *शरीरादि में आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा, तपादि द्वारा सुन्दर शरीर और स्वर्गीय विषय–भोगों की वाँछा करता है और भेदज्ञानी अन्तरात्मा तो बाह्यशरीर विषयादि की वाँछा ही से च्युत होकर, अर्थात् उनसे व्यावृत्त होकर, आत्मस्वरूप में स्थिरता चाहता है।*

विशेष स्पष्टीकरण –

जो अज्ञानी, इन्द्रियों के विषयों की और स्वर्ग के सुख की इच्छा से तपादि का आचरण करता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि उसके अभिप्राय में शुभराग के फलस्वरूप विषयों की ही आकाँक्षा है; उसके व्रत–तपादि, भोग के हेतु से ही हैं।

श्री समयसार, गाथा–२७५ में कहा है कि—

जो धर्म को श्रृद्धे, प्रतीत, रुचि अरु स्पर्शन करे।
सो भोग हेतु धर्म को, नहिं कर्मक्षय के हेतु को॥

'वह भोग के निमित्तरूप धर्म की ही श्रद्धा करता है, उसी की प्रतीति करता है, उसी की रुचि करता है और उसी का स्पर्श करता है, परन्तु कर्मक्षय के निमित्तरूप धर्म की नहीं।'

*....वह कर्मों से छूटने के निमित्तरूप ज्ञानमात्र, भूतार्थधर्म की श्रद्धा नहीं करता; भोगों के निमित्तरूप, शुभकर्ममात्र, अभूतार्थ धर्म की ही श्रद्धा करता है; इसलिए वह अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचि और स्पर्शन से ऊपर के ग्रैवेयक तक के भोगमात्र को प्राप्त होता है, किन्तु कभी भी कर्मों से मुक्त नहीं होता... (**टीका का अंश**)।*

ज्ञानी तो शुद्धात्मस्वरूप की ही भावना करता है। वह स्वप्न में भी विषय–सुखों की भावना नहीं करता। उसको भूमिकानुसार व्रत, तपादि का शुभराग आता है परन्तु उसको उसकी चाहना नहीं है; अभिप्राय में उसका निषेध वर्तता है। जिसको राग की ही भावना नहीं होती, उसको राग के फलरूप विषयों की इच्छा भी कैसे होगी? नहीं ही होती।

पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक (पृष्ठ २४६) में कहा है कि :—

'जैसे, किसी को बहुत दण्ड होता था, वह थोड़ा दण्ड देने का उपाय रखता है, थोड़ा दण्ड देकर हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के पापरूप बहुत कषाय होती थी, सो वह पुण्यरूप थोड़ी कषाय करने का उपाय रखता है, थोड़ी कषाय होने पर हर्ष भी मानता है परन्तु श्रद्धान में कषाय को हेय ही मानता

तत्त्वज्ञानीतरयोर्बन्धकत्वाबन्धकत्वं दर्शयन्नाह -

परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम्।
स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः॥ ४३॥

परत्र शरीरादौ अहम्मतिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा। स्वस्सादात्मस्वस्वरूपात्। च्युतो भ्रष्टः सन्। बध्नाति कर्मबन्धनबद्धं करोत्यात्मानं। असंशय यथा भववि तथा नियमेन बध्नातीत्यर्थः। स्वस्मिन्नात्मस्वरूपे अहम्मितः बुद्धोऽन्तरात्मा। परस्माच्छरीरादेः च्युत्वा पृथग्भूत्वा। मुच्यते सकलकर्मबन्धरहितो भवति॥४३॥

है। तथा जैसे कोई कमाई का कारण जानकर, व्यापारादि का उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है; उसी प्रकार द्रव्यलिङ्गी, मोक्ष का कारण जानकर, प्रशस्तराग का उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है। इस प्रकार प्रशस्तराग के उपाय में और हर्ष में समानता होने पर भी, सम्यग्दृष्टि के तो दण्डसमान और मिथ्यादृष्टि के व्यापारसमान श्रद्धान पाया जाता है; इसलिए अभिप्राय में विशेष हुआ।'

तत्त्वज्ञानी (अन्तरात्मा) और इतर (बहिरात्मा) में (अनुक्रम से) कर्म का अबन्धपना और बन्धपना दर्शाते हुए कहते हैं :—

स्व से च्युत, पर-मुग्ध नर, बँधता, पर-सङ्ग आप।
पर से च्युत, निज-मुग्ध बुध, हरे कर्म-सन्ताप॥ ४३॥

अन्वयार्थ :- (**परत्राहम्मतिः**) शरीरादिक परपदार्थों में जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है - ऐसा बहिरात्मा (**स्वस्मात्**) अपने आत्मस्वरूप से (**च्युतः**) भ्रष्ट हुआ (**असंशयम्**) निःसन्देह (**बध्नाति**) अपने को कर्मबन्धन से बद्ध करता है और (**स्वस्मिन्नहम्मतिः**) अपने आत्मा के स्वरूप में ही आत्मबुद्धि रखनेवाला (**बुधः**) अन्तरात्मा, (**परस्मात्**) शरीरादिक पर के सम्बन्ध से (**च्युत्वा**) च्युत होकर (**मुच्यते**) कर्मबन्धन से छूट जाता है।

टीका :- पर में, अर्थात् शरीरादि में अहंबुद्धि-आत्मबुद्धि करनेवाला बहिरात्मा, स्व से, अर्थात् आत्मस्वरूप से च्युत (भ्रष्ट) होकर बाँधता है-आत्मा को कर्मबन्धन से बाँधता है; निःसंशयपने, अर्थात् नियम से बाँधता है — ऐसा अर्थ है। अपने में, अर्थात् आत्मस्वरूप में अहंबुद्धिवाला बुध / अन्तरात्मा; पर से, अर्थात् शरीरादि से च्युत होकर / पृथक् होकर, मुक्त होता है, अर्थात् सर्व कर्मबन्धन से रहित होता है॥४३॥

यत्राहम्मतिर्बहिरात्मनो जाता तत्तेन कथमध्यवसीयते ? यत्र चान्तरात्मनस्तत्तेन कथमित्याशंक्याह -

भावार्थ :- *बहिरात्मा, अपना शुद्धात्मस्वरूप भूलकर, शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि करता है, इससे उसको ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध होता है और अन्तरात्मा, शरीरादि परपदार्थों के साथ का सम्बन्ध तोड़कर, अपने चिदानन्दस्वरूप के साथ आत्मबुद्धिपूर्वक सम्बन्ध जोड़ता है, इससे वह कर्मबन्धन से छूट जाता है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

अज्ञानतावश जीव, शरीरादि परपदार्थों में अहंबुद्धि, ममकारबुद्धि, कर्ता-भोक्ताबुद्धि आदि का राग-द्वेष करता है और राग-द्वेष के निमित्त से उसको कर्म का बन्ध होता है। बाह्य पदार्थ, बन्ध का कारण हैं ही नहीं; उनमें मिथ्याभ्रान्तिजनित ममत्वभाव ही संसार-बन्ध का कारण है। अज्ञानी को अपने चैतन्यस्वरूप की असावधानी है; इसलिए उसको परपदार्थों में आत्मभ्रान्ति चालू रहती है और उसके फलरूप कर्मबन्ध भी हुआ ही करता है।

ज्ञानी को राग-द्वेषादि और आत्मस्वभाव का भेदविज्ञान है; इसलिए उसको उपयोग में राग के साथ एकता नहीं होने से, वह अबन्ध है।

श्री समयसार, गाथा-२९३ में कहा है कि —

'रे जानकर बन्धनस्वभाव, स्वभावजान जु आत्म का।
जो बन्ध में हि विरक्त होवे, कर्म मोक्ष करे अहा॥'

'बन्ध के स्वभाव को और आत्मा के स्वभाव को जानकर, बन्ध के प्रति जो विरक्त होता है, वह कर्मों से मुक्त होता है।'

ज्ञानी, अपने स्वरूप में स्थित है, अर्थात् स्वसमय है और परपदार्थों के प्रति होनेवाले रागादिभावों से विरक्त है; इससे उसको कर्मबन्धन नहीं है। अज्ञानी, आत्मस्वरूप से च्युत है, अर्थात् परपदार्थों में आत्मबुद्धि से स्थित है, परसमय है और रागादिभावों से युक्त है; इससे वह कर्मों से बद्ध है।

जहाँ (जिन पदार्थों में) बहिरात्मा को आत्मबुद्धि हुई, उन्हें वह कैसा मानता है और अन्तरात्मा उन्हें (पदार्थों को) कैसा मानता है ? वैसी आशङ्का का निरशन करके कहते हैं :—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम्॥ ४४॥

दृश्यमानं शरीरादिकं। किं विशिष्टं? त्रिलिङ्गं त्रीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणानि लिङ्गानि यस्य तत् दृश्यमानं त्रिलिंङ्गं सत्। मूढो बहिरात्मा। इदमात्मतत्त्वं त्रिलिङ्गं मन्यते दृश्यमानादभेदाध्यवसायेन। यः पुनरवबुद्धोऽन्तरात्मा स इदमात्मतत्त्वमित्येवं मन्यते। न पुनस्त्रिलिङ्गतया। तस्याः शरीरधर्मतया आत्मस्वरूपत्वाभावात् कथम्भूत-मिदमात्मस्वरूपं! निष्पन्नमनादिसंसिद्धम् तथा शब्दवर्जितं विकल्पाभिधानाऽ-गोचरम्॥४४॥

दिखते त्रय तन चिह्न को, मूढ़ कहे निजरूप।
ज्ञानी मानें आपको, वचन बिना चिद्रूप॥ ४४॥

अन्वयार्थ :-(**मूढः**) अज्ञानी बहिरात्मा, (**इदं दृश्यमानं**) इस दिखायी देनेवाले शरीर को (**त्रिलिंगं अवबुध्यते**) स्त्री-पुरुष-नपुंसक के भेद से यह आत्मतत्त्व, त्रिलिङ्गरूप है — ऐसा मानता है, किन्तु (**अवबुद्धः**) आत्मज्ञानी अन्तरात्मा, (**इदं**) 'यह आत्मतत्त्व है, वह त्रिलिङ्गरूप नहीं है (**तु**) परन्तु वह (**निष्पन्नं**) अनादि संसिद्ध तथा (**शब्दवर्जितम्**) नामादिक विकल्पों से रहित है' (**इति**) — ऐसा समझता है।

टीका :- दृश्यमान (देखने में आते हुए) शरीरादिक को — कैसे (शरीरादिक को)? त्रिलिङ्गरूप, अर्थात् स्त्री-पुरुष-नपुंसक — ये तीन लिङ्ग जिसके हैं, वैसे त्रिलिङ्गस्वरूप दिखते (शरीरादिक को)। मूढ़, अर्थात् बहिरात्मा, दृश्यमान (शरीरादिक के) साथ अभेदरूप (एकरूप) की मान्यता के कारण, इस आत्मतत्त्व को त्रिलिङ्गरूप मानता है परन्तु जो ज्ञानी अन्तरात्मा है, वह यह 'आत्मतत्त्व है, सो त्रिलिङ्गरूप नहीं' — ऐसा मानता है, क्योंकि शरीरधर्मपने के कारण, उनका (त्रिलिङ्गपने का) आत्मस्वरूपपने में अभाव है। वह आत्मस्वरूप कैसा है? वह निष्पन्न, अर्थात् अनादि-संसिद्ध है तथा शब्दवर्जित, अर्थात् नामादि विकल्पों से अगोचर है॥४४॥

भावार्थ :- *बहिरात्मा को शरीरादि के साथ एकताबुद्धि-अभेदबुद्धि होने से, स्त्री -पुरुष-नपुंसक, इन त्रिलिङ्गरूप शरीर जो दृष्टिगोचर है, उसको आत्मा मानता है, परन्तु*

ननु यद्यन्तरात्मैवात्मानं प्रतिपद्यते तदा कथं पुमानहं गौरोऽहं मित्यादिरूपं, तस्य कदाचितभेदभ्रांतिः स्यात् इति वदन्तं प्रत्याह -

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति॥ ४५॥

आत्मनस्तत्त्वं स्वरूपं जानन्नपि। तथा विविक्तं शरीरादिभ्योभिन्नं भावयन्नपि

अन्तरात्मा मानता है कि 'आत्मा तो अनादि-संसिद्ध तथा नामादि विकल्पों से रहित है। स्त्री-पुरुषादि त्रिलिङ्ग, ये शरीर के धर्म हैं, अर्थात् पौद्गलिक हैं; वे आत्मस्वरूप में नहीं हैं।'

अज्ञानी जीव को शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व की प्रतीति नहीं है; वह स्त्री-पुरुष-नपुंसकरूप त्रिलिङ्गात्मक दृश्यमान शरीर को ही आत्मा मानता है।

सम्यग्दृष्टि को वस्तुस्वरूप का ज्ञान है और शरीर से भिन्न चैतन्यरूप आत्मतत्व की प्रतीति है। इससे वह अपने आत्मा को तद्रूप ही अनुभवता है परन्तु उसको त्रिलिङ्गरूप नहीं अनुभवता; वह तो उसको (आत्मा को) अनादि सिद्ध और निर्विकल्प समझता है।

इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की शरीर सम्बन्धी मान्यता एक-दूसरे से विपरीत है।

यदि अन्तरात्मा ही आत्मा का अनुभव करता है तो फिर 'मैं पुरुष, मैं गोरा' — इत्यादि अभेदरूप भ्रान्ति उसको कदाचित् क्यों होती है ? — ऐसा बोलनेवाले के प्रति कहते हैं :—

आत्मविज्ञ यद्यपि गिने, जाने तन-जिय भिन्न।
पर विभ्रम संस्कारवश, पड़े भ्राँति में खिन्न॥ ४५॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा **(आत्मनः तत्त्वं)** अपने आत्मा के शुद्ध चैतन्यस्वरूप को **(जानन् अपि)** जानता हुआ भी **(विविक्तं भावयन् अपि)** और शरीरादिक अन्य पर-पदार्थों से भिन्न अनुभव करता हुआ भी, **(पूर्वविभ्रमसंस्कारात्)** पहली बहिरात्मावस्था में होनेवाली भ्रान्ति के संस्कारवश **(भूयोऽपि)** पुनरपि **(भ्रांतिं गच्छति)** भ्रान्ति को प्राप्त हो जाता है।

टीका :- आत्मा का तत्त्व, अर्थात् स्वरूप जानने पर भी तथा उसको विविक्त, अर्थात् शरीरादि से भिन्न भाता होने पर भी (दोनों जगह 'अपि' शब्द परस्पर समुच्चय के अर्थ में है), फिर से भी — पुनः अपि वह (अन्तरात्मा) भ्रान्ति को प्राप्त होता है। किससे (भ्रान्ति को प्राप्त

उभयत्राऽपिशब्दः परस्परसमुच्चये। भूयोऽपि पुनरपि। भ्रान्तिं गच्छति। कस्मात्? पूर्वविभ्रमसंस्कारात् पूर्वविभ्रमो बहिरात्मावस्थाभावी शरीरादौ स्वात्मविपर्यासस्तेन जनितः संस्कारो वासना तस्मात्॥४५॥

होता है) ? पूर्व विभ्रम के संस्कारों से, अर्थात् पूर्व विभ्रम /बहिरात्मावस्था में शरीरादि को अपना आत्मा माननेरूप विपर्यास (विभ्रम), उससे हुआ संस्कार-वासना, उसके कारण (वह पुनः भ्रान्ति को प्राप्त होता है) ॥४५॥

भावार्थ *:- अन्तरात्मा, आत्मतत्त्व को देह से भिन्न जानता है तथा उसकी वैसी भावना भी करता है — ऐसा होने पर भी, पूर्व में, अर्थात् बहिरात्मावस्था में शरीरादि को आत्मा माननेरूप भ्रान्ति से उत्पन्न हुए संस्कार के कारण, उसको सम्यक्श्रद्धा रहने पर भी, चारित्रदोषरूप भ्रान्ति होती है। उस चारित्रदोष का अभाव कैसे करना? — यह बात आगे के श्लोक में बतायेंगे।*

आत्मज्ञानी, अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानता है और उसको शरीरादि परद्रव्यों से भिन्न अनुभव भी करता है तो भी पूर्व के लम्बे समय के संस्कारों का सर्वथा अभाव नहीं होने से, उसको किसी समय अस्थिरता के कारण, बाह्यपदार्थों में भ्रम हो जाता है।

विशेष स्पष्टीकरण *-*

(भले ही) धर्मी को अस्थिरता के कारण, राग-द्वेष हो जाएँ, परन्तु उसको श्रद्धा-ज्ञान में उनका स्वामीपना नहीं है-एकत्वबुद्धि नहीं है। श्रद्धा-ज्ञान के बल से और भेदज्ञान की भावना से, वह पूर्व के संस्कारों को नष्ट करने में सदा प्रयत्नशील होता है। यदि वह श्रद्धा-ज्ञान में राग-द्वेष को भला माने तो वह पुनः बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि हो जाए।

अविरत सम्यग्दृष्टि को अन्दर ज्ञानचेतना का परिणमन है तो भी अस्थिरता के कारण, राग-द्वेष हो जाते हैं, इससे उसको ज्ञानचेतना के साथ कदाचित् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का भी सद्भाव माना गया है परन्तु वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का ज्ञाता-दृष्टा रहता है। वास्तव में वे दोनों चेतनाएँ, ज्ञानचेतना ही हैं।[1]

अन्तरात्मा को पूर्व के संस्कारों के कारण, निचली भूमिका में जो भ्रान्ति होती है, वह

१. श्री पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध), गाथा-२०५, २७६, ८१९

भूयो भ्रान्तिं गतोऽसौ कथं मां त्यजेदित्याह -

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥ ४६॥

इदं शरीरादिकं दृश्यमिन्द्रियैः प्रतीयमानं। अचेतनं जडं रोषतोषादिकं कृतं न जानातीत्यर्थः यच्चेतनमात्मस्वरूपं अदृश्यमिन्द्रियग्राह्यं न भवति। ततः यतो रोषतोषविषयं दृश्यं शरीरादिकमचेतनं चेतनं स्वात्मस्वरूपमदृश्यत्वात्तद्विषयमेव न भवति ततः क्व रुष्यामि क्व तुष्याम्यहं। अतः यतो रोषतोषयोः कश्चिदपि विषयो न घटते अतः मध्यस्थः उदासीनोऽहं भवामि॥४६॥

मिथ्यात्वजनित नहीं, परन्तु अस्थिरताजनित है; इसलिए उसको राग-द्वेष होने पर भी, उसके सम्यक्त्व में कोई दोष नहीं आता।

फिर से भ्रान्ति को प्राप्त वह अन्तरात्मा, उसको (भ्रान्ति को) किस प्रकार छोड़े? — वह कहते हैं :—

जो दिखते चेतन नहीं, चेतन गोचर नाहिं।
रोष-तोष किससे करूँ, हूँ तटस्थ निज माँहि॥ ४६॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा तब अपनी विचारपरिणति को इसरूप करे कि **(इदं दृश्यं)** यह जो दृष्टिगोचर होनेवाला पदार्थ-समूह है, वह समस्त ही **(अचेतनं)** चेतनारहित-जड़ है और जो **(चेतनं)** चैतन्यरूप आत्मा है, वह **(अदृश्यं)** इन्द्रियों के द्वारा दिखायी नहीं पड़ता; **(ततः)** इसलिए वह **(क्व रुष्यामि)** मैं किस पर तो क्रोध करूँ और **(क्व तुष्यामि)** किस पर सन्तोष व्यक्त करूँ? **(अतः अहं मध्यस्थः भवामि);** अतः में तो अब राग-द्वेष के परित्यागरूप मध्यस्थभाव को धारण करता हूँ।

टीका :- ये, अर्थात् शरीरादिक, जो दृश्य, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा दिखने योग्य हैं-प्रतीति में आने योग्य हैं, वे अचेतन-जड़ हैं; वे किए गये रोष-तोषादिक को नहीं जानते — ऐसा अर्थ है। जो चेतन-स्वात्मस्वरूप है, वह अदृश्य है, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है; इसलिए मैं किसके प्रति रोष करूँ और किसके प्रति तोष करूँ? क्योंकि दृश्य शरीरादि, अचेतन हैं और चेतन-आत्मस्वरूप अदृश्य है; इसलिए मैं मध्यस्थ-उदासीन होता हूँ, क्योंकि रोष-तोष का कोई भी विषय घटित नहीं होता॥४६॥

इदानीं मूढात्मनोऽन्तरात्मनश्च त्यागोपादानविषयं प्रदर्शयन्नाह -

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः॥ ४७॥

भावार्थ *:- पूर्व के चारित्रसम्बन्धी भ्रान्तिरूप संस्कार जागृत होते हैं, तब अन्तरात्मा समाधानरूप से विचार करता है कि — 'जो शरीरादिक पदार्थ दृष्टिगोचर हैं, वे अचेतन हैं-जड़ हैं; मैं उन पर राग-द्वेष करूँ तो वह व्यर्थ है। आत्मा, जो चेतन है, राग-द्वेषभाव को जान सकता है, वह तो अदृश्य है-दृष्टिगोचर नहीं है; इसलिए वह भी मेरे राग-द्वेष का विषय नहीं बन सकता; इसलिए किसी पर राग-द्वेष नहीं करके, सर्व बाह्यपदार्थों से उदासीन होकर, मध्यस्थ (वीतरागी) भाव धारण करना योग्य है, अर्थात् पर के प्रति उदासीनता का सेवन करते हुए, उनका केवल ज्ञाता-दृष्टा रहकर, आत्मतत्त्व को ही ज्ञान का विषय बनाना और उसी में स्थिर होना योग्य है।'*

ज्ञानी को अल्प राग-द्वेष होते हैं परन्तु भेदज्ञान के बल से वह अन्दर में उपरोक्त प्रकार से समाधान करके, तुरन्त अपने ज्ञान के विषय को पकड़ लेता है और ज्ञानानन्दस्वरूप को ही ज्ञान का विषय बनाता है। उसकी बारम्बार भावना भाने से, राग-द्वेष की वृत्ति स्वयं क्रम-क्रम से मिट जाती है।

अब, बहिरात्मा और अन्तरात्मा के त्याग-ग्रहण के विषय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

बाहर से मोही करे, अन्दर अन्तर-आत्म।
दृढ़ अनुभववाला नहीं, करे ग्रहण और त्याग॥ ४७॥

अन्वयार्थ *:-* (**मूढः**) मूर्ख बहिरात्मा, (**बहिः**) बाह्यपदार्थों का (**त्यागादाने करोति**) त्याग और ग्रहण करता है, अर्थात् द्वेष के उदय से जिनको अनिष्ट समझता है, उनको छोड़ देता है और राग के उदय से जिन्हें इष्ट समझता है, उनको ग्रहण कर लेता है; तथा (**आत्मवित्**) आत्मा के स्वरूप का ज्ञाता अन्तरात्मा, (**अध्यात्मं त्यागादाने करोति**) अन्तरङ्ग राग-द्वेष का त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निजभावों का ग्रहण करता है परन्तु (**निष्ठितात्मनः**) शुद्धस्वरूप में स्थित जो कृतकृत्य परमात्मा हैं, उनके (**अन्तःबहि**) अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग किसी भी पदार्थ का (**न त्यागः**) न तो त्याग और (**न उपादानं**) न ग्रहण होता है।

मूढा बहिरात्मा त्यागादाने करोति। क्व ? बहिर्बाह्ये हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलाषाभावान्मूढात्मा त्यागं करोति। रागोदयात्तत्राभिलाषोत्पत्तेरुपादानमिति। आत्मवित् अन्तरात्मा पुनरध्यात्मं स्वात्मरूप एव त्यागादाने करोति। तत्र हि त्यागो रागद्वेषादेरन्तर्जल्पविकल्पादेर्वा। स्वीकारश्चिदानन्दादेः। यस्तु निष्ठितात्मा कृतकृत्यात्मा तस्य अन्तर्बहिर्वा नोपादानं तथा न त्यागोऽन्तर्बहिर्वा॥४७॥

टीका :- मूढ़ बहिरात्मा, त्याग-ग्रहण करता है। किसमें (करता है) ? बाहर में, अर्थात् बाह्यवस्तु में; द्वेष के उदय के कारण-अभिलाषा के अभाव के कारण, मूढ़ात्मा (बहिरात्मा) उसका (बाह्यवस्तु का) त्याग करता है और राग का उदय होने पर, उसकी अभिलाषा की उत्पत्ति के कारण, उसका (बाह्यवस्तु का) ग्रहण करता है, परन्तु आत्मविद, अर्थात् अन्तरात्मा, आत्मा में ही / आत्मस्वरूप में ही त्याग-ग्रहण करता है। वहाँ त्याग तो राग-द्वेषादि का अथवा अन्तर्जल्परूप विकल्पादि का और स्वीकार (ग्रहण) चिदानन्दादि का होता है।

जो निष्ठितात्मा, अर्थात् कृतकृत्य आत्मा है, उसको अन्तर में या बाह्य में (कुछ) ग्रहण नहीं है तथा अन्तर या बाह्य में (कुछ) त्याग नहीं है॥४७॥

भावार्थ :- *बहिरात्मा, जो पदार्थ इष्ट लगते हैं, उनको ग्रहण करना चाहता है और जो पदार्थ अनिष्ट लगते हैं, उनका त्याग करना चाहता है। वास्तव में*[१] *कोई ज्ञानी या अज्ञानी, बाह्यपदार्थों का ग्रहण-त्याग कर सकता ही नहीं, तथापि बहिरात्मा उनका ग्रहण-त्याग करना मानता है — यह उसकी मूढ़ता है।*

अन्तरात्मा, आत्मस्वरूप में ही ग्रहण-त्याग करता है, अर्थात् वह बाह्यपदार्थों से चित्तवृत्ति हटाकर, स्वसन्मुख होकर, अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ग्रहण करता है; वैसा करने से राग-द्वेषादि का व विकल्पादि का त्याग स्वयं हो जाता है। रागदि की अनुत्पत्ति, वही त्याग है।

शुद्धस्वरूप में स्थित आत्मा (निष्ठितात्मा), कृतकृत्य होने से उनको बाह्य या अन्तरङ्ग किसी भी विषय में ग्रहण-त्याग की प्रवृत्ति नहीं होती; वे तो अपने चिदानन्दस्वरूप में सदा स्थिर रहते हैं।

---

१. श्री समयसार, गाथा-४०६, और समाधितन्त्र श्लोक २० का विशेष

अन्तस्त्यागोपादाने वा कुर्वाणोऽन्तरात्मा कथं कुर्यादित्याह -

युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम्॥ ४८॥

आत्मानं युञ्जीत सम्बद्धं कुर्यात्। केन सह ? मनसा मानसज्ञानेन चित्तमात्मेत्य-

---

विशेष स्पष्टीकरण -

बहिरात्मा को अन्दर के चैतन्यतत्त्व का ज्ञान नहीं है, उसको स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है; अतः वह जो बाह्यपदार्थ देखता है, उनके साथ एकताबुद्धि करता है। उनमें इष्टानिष्ट की कल्पना करके, राग-द्वेषभाव से उनका ग्रहण-त्याग करने के लिए दौड़ता है परन्तु बाह्यपदार्थों का ग्रहण-त्याग उसके आधीन नहीं है। वे पदार्थ तो स्वयं के कारण से आते-जाते हैं। विपरीतमान्यता के कारण, उसका बाह्यग्रहण-त्याग, राग-द्वेषगर्भित है। उसके अभिप्राय में आत्मस्वभाव का त्याग और विभाव तथा परभावों का ग्रहण है।

अन्तरात्मा के अभिप्राय में-मान्यता में परपदार्थों का ग्रहण-त्याग ही नहीं है। अस्थिरता के कारण किञ्चित् राग-द्वेष की वृत्ति उत्पन्न होती है परन्तु उसके साथ भी उसकी एकता नहीं है-स्वामीपना नहीं है। वह वृत्ति भी आत्मस्वरूप का ग्रहण होने पर-उसमें स्थिर होने पर, स्वयं विनष्ट हो जाती है-मिट जाती है।

अन्तर में त्याग-ग्रहण करनेवाला अन्तरात्मा किस प्रकार करे ? — वह कहते हैं :—

जोड़े मन सङ्ग आत्मा, वचन-काय से मुक्त।
वचन-काय व्यवहार में, जोड़े न मन, हो मुक्त॥ ४८॥

अन्वयार्थ :- **(आत्मानं)** आत्मा को **(मनसा)** मन के साथ **(युञ्जीत)** संयोजित करें-चित्त और आत्मा का अभेदरूप से अध्यवसाय करें, **(वाक्कायाभ्यां)** वचन और काय से **(वियोजयेत्)** अलग करें — उन्हें आत्मा न समझे **(तु)** और **(वाक्काययोजितम्)** वचन-काय से किए हुए **(व्यवहारं)** व्यवहार को **(मनसा)** मन से **(त्यजेत्)** छोड़ देवें; उसमें चित्त को न लगावें।

टीका :- (वह अन्तरात्मा), आत्मा को जोड़े, अर्थात् सम्बन्ध करे। किसके साथ ? मन

भेदेनाध्यवसेदित्यर्थः। वाक्कायाभ्यां तु पुनर्वियोजयेत् पृथक्कुर्यात् वाक्काययोरात्माभेदाध्यवसायं न कुर्यादित्यर्थः। एतच्च कुर्वाणो व्यवहारं तु प्रतिपाद्य प्रतिपादकभावलक्षणं प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं वा। वाक्काययोजितं वाक्कायाभ्यां योजितं सम्पादितं। केन सह? मनसा सह मनस्यारोपित व्यवहारं मनसा त्यजेत् चित्तेन न चिन्तयेत्॥४८॥

के साथ, अर्थात् मानस ज्ञान (भावमन) के साथ। 'मन, वह आत्मा है'— ऐसा अभेदरूप अध्यवसाय (मान्यता) करे — ऐसा अर्थ है और वाणी तथा काय से उसको (आत्मा को) वियुक्त करे-पृथक् करे, अर्थात् वाणी और काया में आत्मा का अभेदरूप अध्यवसाय नहीं करे — ऐसा अर्थ है और वैसा करनेवाले वाक् काययोजित, अर्थात् वाणी-काय द्वारा योजित, अर्थात् सम्पादित 'प्रतिपाद्य' प्रतिपादक भावरूप (शिष्य-गुरु सम्बन्धरूप) प्रवृत्ति-निवृत्ति व्यवहार को; किसके साथ (सम्पादित)? मन के साथ, अर्थात् मन में आरोपित व्यवहार को; मन से तजे, अर्थात् मन में चिन्तवन नहीं करे॥४८॥

भावार्थ :- *अन्तरात्मा, भावमन को वाणी और देह की क्रिया की तरफ से (प्रवृत्ति से) वियुक्त करके-अलग करके, आत्मस्वरूप में लगावे, अर्थात् उसके साथ अभेद करे-तल्लीन करे और वाणी तथा काय द्वारा सम्पादित प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार को मन में से तजे, अर्थात् उसका विचार छोड़ दे।*

विशेष स्पष्टीकरण -

वाणी-काय की प्रवृत्ति, जड़ की क्रिया है; वह आत्मा नहीं कर सकता। अन्तरात्मा को भेदज्ञान है, इससे वह अपने उपयोग को वाणी-काय की क्रिया की ओर से हटाकर, अपने आत्मस्वरूप में रोकता है।

जहाँ तक जीव, वचन-काय की क्रिया के साथ एकत्वबुद्धि करता है-उसको आत्मा की क्रिया समझता है, वहाँ तक उसका उपयोग वहाँ से छूटकर, स्वसन्मुख नहीं झुकता और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता।

उपयोग द्वारा स्व का ग्रहण करने में ही समस्त परद्रव्यों का और परभावों का स्वयं त्याग हो जाता है।

निचलीभूमिका में ज्ञानी का उपयोग कदाचित् अस्थिरता के कारण, वाणी-काया की

ननु पुत्रकलत्रादिना सह वाक्कायव्यवहारे तु सुखोत्पत्तिः प्रतीयते कथं तत्त्यागो युक्त इत्याह -

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः॥ ४९॥

देहात्मदृष्टीनां बहिरात्मनां जगत् पुत्रकलत्रादिप्राणिगणो विश्वासस्यमवञ्चकं।

क्रिया द्वारा पर के साथ के व्यवहार में जुड़ता है परन्तु उसमें उसको कर्तृत्वबुद्धि का अभाव है-अभिप्राय में उसका निषेध है। जैसे, रोगी को कड़वी दवा के प्रति अरुचि होती है; इसी प्रकार ज्ञानी को उनके प्रति उदासीनता होती है; इसलिए ज्ञानी का उपयोग, शरीरादि की क्रिया में जुड़ा हुआ दिखने पर भी, वह नहीं जुड़े हुए के समान है।

शरीर-वाणी की क्रिया में एकताबुद्धि का-आत्मबुद्धि का त्याग और शुद्धात्मस्वरूप का ग्रहण — यही अन्तरात्मा का अन्तरङ्ग त्याग-ग्रहण है।

यहाँ आचार्य ने व्यवहार के त्याग का निर्देश किया है, वह ऐसा सूचित करता है कि आत्मकार्य के लिए व्यवहार आश्रय करनेयोग्य नहीं है।

पुत्र-स्त्री आदि के साथ के वाणी-काया के व्यवहार में तो सुख की उत्पत्ति की प्रतीति होती है, तो उसका (व्यवहार का) त्याग किस प्रकार योग्य है? वह कहते हैं :—

मूढ़ रति पर में करे, धरे जगत् विश्वास।
स्वात्म-दृष्टि कैसे करे, जग में रति विश्वास॥ ४९॥

अन्वयार्थ :- (**देहात्मदृष्टीनां**) शरीर में आत्मदृष्टि रखनेवाले मिथ्यादृष्टि बहिरात्माओं को (**जगत्**) यह स्त्री-पुत्र-मित्रादि का समूहरूप जगत (**विश्वास्यं**) विश्वास के योग्य (**च**) और (**रम्यं एव**) रमणीय ही मालूम पड़ता है, परन्तु (**स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीनां**) अपने आत्मा में ही आत्मदृष्टि रखनेवाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओं को (**क्व विश्वासः**) इन स्त्री-पुत्रादि परपदार्थों में कैसे विश्वास हो सकता है (**वा**) और (**क्व रतिः**) कैसे आसक्ति हो सकती है? कभी भी नहीं।

टीका :- देह में आत्मदृष्टिवाले बहिरात्माओं को पुत्र-स्त्री आदि प्राणीसमूहरूप जगत विश्वास करने योग्य, अर्थात् अवचंक (नहीं ठगनेवाला) तथा रम्य ही, अर्थात् रमणीय ही

च रम्यमेव रमणीयमेव प्रतिभाति। स्वात्मन्येव स्वस्वरूपे एवात्मदृष्टीनां अन्तरात्मनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ? न क्वापि पुत्रकलत्रादौ तेषां विश्वासो रतिर्वा प्रति-भातीत्यर्थः ॥४९ ॥

प्रतिभाषित होता है। स्वात्मा में ही, अर्थात् स्वस्वरूप में ही आत्मदृष्टिवाले अन्तरात्माओं को विश्वास कहाँ है अथवा रति कहाँ ? उनको पुत्र-स्त्री आदि में कहीं भी विश्वास अथवा रति प्रतिभासित नहीं होती — ऐसा अर्थ है ॥४९ ॥

भावार्थ :- *जिसको देह में आत्मबुद्धि है, उसको स्त्री-पुत्र-मित्रादिरूप जगत् ही विश्वासयोग्य और रम्य-सुखदायक लगता है और इससे वह उनके साथ वाणी-काय का व्यवहार करने का विकल्प करता है।*

ज्ञानी को स्त्री-पुत्रादि बाह्यपदार्थों में आत्मबुद्धि नहीं है, उसको उनमें वास्तविक सुख भासित नहीं होता और वे विश्वासयोग्य तथा रमणीय नहीं लगते; इसलिए ज्ञानी को उनके साथ वचन-व्यवहार और शरीर-व्यवहार का अभिप्राय में त्याग वर्तता है। उसको आत्मा ही विश्वास करनेयोग्य और रम्य, ज्ञात होता है और उसी में वास्तविक सुख भासित होता है; इसलिए वह जगत के पदार्थों में सुख होने का विश्वास कैसे करे ? नहीं ही करता।

विशेष स्पष्टीकरण -

अज्ञानी, बाह्यपदार्थों के संयोग में सुख मानकर, उनका विश्वास करता है परन्तु उन संयोगों के पलटने या उनका वियोग होने पर उसके माने हुए सुख का अन्त आता है। इस प्रकार बाह्यसंयोगों के विश्वास से वह ठगाया जाता है। वास्तव में अनुकूल या प्रतिकूल लगनेवाले संयोगों में कहीं सुख नहीं है तो भी वह उनमें सुख मानकर ठगाया जाता है।

ज्ञानी को अपना आत्मा ही इष्ट है-प्रिय है। उसको जगत के पदार्थ प्रिय-सुखरूप नहीं लगते। समकिती चक्रवर्ती को छह खण्ड का राज्य और हजारों रानियों इत्यादि का संयोग होता है परन्तु उनमें उसको सुख के लिए स्वप्न में भी विश्वास नहीं है। उसको तो अपने चैतन्य आत्मा का ही विश्वास है और उसी में सुख भासित होता है। उसको 'जगत् इष्ट नहीं, आत्म से।'

इस प्रकार होवे तो आहारादि में भी अन्तरात्मा की प्रवृत्ति कैसे होती है ? वह कहते हैं :—

नत्वेवमाहारादावप्यन्तरात्मनः कथं प्रवृत्तिः स्यादित्याह -

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥ ५० ॥

चिरं बहुतरं कालं बुद्धौ न धारयेत्। किं तत्? कार्यं। कथम्भूतम् परमन्यत्। कस्मात्? आत्मज्ञानात्। आत्मज्ञानलक्षणमेव कार्यं बुद्धौ चिरं धारयेदित्यर्थः परमपि किञ्चिद् भोजनव्याख्यानादिकं वाक्कायाभ्यां कुर्यात्। कस्मात्? अर्थवशात् स्वपरोपकारलक्षणप्रयोजनवशात्। किंविशिष्टः? अतत्परस्तदनासक्तः ॥५० ॥

आत्मज्ञान बिन कार्य कुछ, मन में थिर नहीं होय।
कारणवश यदि कुछ करे, अनासक्ति वहाँ जोय॥ ५० ॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा को चाहिए कि वह **(आत्मज्ञानात्परं)** आत्मज्ञान से भिन्न, दूसरे **(कार्यं)** कार्य को **(चिरं)** अधिक समय तक **(बुद्धौ)** अपनी बुद्धि में **(न धारयेत्)** धारण नहीं करे। यदि **(अर्थवशात्)** स्व-पर के उपकारादिरूप प्रयोजन के वश **(वाक्कायाभ्यां)** वचन और काय से **(किंचित् कुर्यात्)** कुछ करना ही पड़े तो उसे **(अतत्परः)** अनासक्त होकर **(कुर्यात्)** करे।

टीका :- चिरकाल तक, अर्थात् बहुत लम्बे काल तक बुद्धि में धारण नहीं करता। क्या वह? कार्य। कैसा (कार्य)? पर, अर्थात् अन्य। किससे (अन्य)? आत्मज्ञान से (अन्य)। आत्मज्ञानरूप कार्य को ही लम्बे काल तक धारण रखता है — ऐसा अर्थ है; परन्तु अन्य किञ्चित्, अर्थात् भोजन, व्याख्यानादिरूप कार्य को वचन-काय द्वारा करे। किससे? प्रयोजनवश, अर्थात् स्व-पर के उपकाररूप प्रयोजनवश (करे)। कैसा होकर (वह करे)? अतत्पर होकर, अर्थात् उसमें अनासक्त होकर करे ॥५० ॥

भावार्थ :- *ज्ञानी, अपने भावमन को-उपयोग को आत्मज्ञान के कार्य में ही रोकता है; आत्मज्ञान से अन्य किसी व्यावहारिक कार्य में लम्बे समय तक नहीं रोकता। कदाचित् प्रयोजनवशात्, अर्थात् स्व-पर के उपकारार्थ अस्थिरता के कारण, वचन-काय द्वारा आहार-उपदेशादि कार्य करने का विकल्प आवे तो उसमें ज्ञानी को अतन्मयभाव वर्तता है।*

तदनासक्तः कुतः पुनरात्मज्ञानमेव बुद्धौ धारयेन्न शरीरादिकमित्याह -

विशेष स्पष्टीकरण -

धर्मी को मुख्य कार्य, आत्मसंवेदन ही है। वह उसमें ही अपने उपयोग को लगाता है। कदाचित् लम्बे समय तक स्वरूप में स्थिर न रह सके और प्रयोजनवशात् आहार-उपदेशादि का विकल्प आवे, तो वे कार्य अनासक्तिभाव से (अतन्मयभाव से) होते हैं। उसके मन में उन्हें करने का उत्साह नहीं है, भावना नहीं है। कार्य के लिए शरीर-वाणी की जो क्रिया होती है, उसमें उसको एकताबुद्धि या कर्ताबुद्धि तो है ही नहीं, परन्तु वह क्रिया करने के विकल्प को भी भला नहीं मानता। 'मैं इस विकल्प को तोड़कर, स्वरूप में स्थिर होकर कब शुद्धात्मा को अनुभवूँ' — ऐसी भावना उसको निरन्तर होती है। इसी भावना के बल से उसका उपयोग, बाहर की क्रिया में लम्बे काल तक नहीं टिकता; वहाँ से छूटकर शीघ्र ही स्वसन्मुख झुकता है।

ज्ञानी को निचली भूमिका में अस्थिरता के कारण, राग होता है और वचन -काय की क्रिया के प्रति लक्ष्य जाता है परन्तु अपने ज्ञानस्वभाव को भूल जाए, वैसी आसक्ति उनमें नहीं होती।

ज्ञानी को बाह्य वचन-काय की प्रवृत्ति होने पर भी, उसके अन्तरङ्ग में दृढ़ मान्यता है कि :—

'मैं देह-मन-वाणी नहीं, मैं उनका कर्ता नहीं, उनका करानेवाला नहीं और अनुमोदक भी नहीं......मेरे कर्ता हुए बिना भी वे वास्तव में किये जाते हैं; इसलिए उनके कर्तापने का पक्षपात छोड़कर, मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।' ***(श्री प्रवचनसार, गाथा १६० व टीका)***

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को भी ज्ञानचेतना का निरन्तर परिणमन होता है; इससे वह खाने -पीने में, पाँच इन्द्रियों के विषय भोगने में, व्यापार में, युद्ध आदि संसार के कार्यों में बाह्यदृष्टि से रुका हुआ लगने पर भी, समस्त बाह्यप्रवृत्ति में वह जल-कमलवत् न्याय से रहता है।

अनासक्त (अन्तरात्मा) आत्मज्ञान को ही बुद्धि में धारण करता है; शरीरादि को नहीं — ऐसा कैसे होता है ? वह कहते हैं :—

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्॥ ५१॥

यच्छरीरादिकमिन्द्रियैः पश्यामि तन्मे नास्ति मदीयं रूपं तन्न भवति। तर्हि किं मम रूपम् ? तदस्तु ज्योतिरुत्तमं ज्योतिर्ज्ञानमुत्तममतीन्द्रियम्। तथा सानन्दं परम-प्रसत्तिसमुद्भूतसुख-समन्वितम्। एवं विधं ज्योतिरन्तः पश्यामि स्वसंवेदनेनानुभवामि यत्तन्मे स्वरूपमस्तु भवतु किंविशिष्टः पश्यामि ? नियतेन्द्रियो नियन्त्रितेन्द्रियः॥५१॥

इन्द्रिय से जो कुछ प्रगट, मम स्वरूप है नाहिं।
'मैं हूँ आनन्द ज्योति प्रभु', भासे अन्दर माँहि॥ ५१॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा विचारता है कि **(यत्)** जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ **(इन्द्रियैः)** इन्द्रियों के द्वारा **(पश्यामि)** मैं देखता हूँ। **(तत्)** वह **(मे)** मेरा स्वरूप **(नास्ति)** नहीं है, किन्तु **(नियतेन्द्रियः)** इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर, स्वाधीन करता हुआ **(यत्)** जिस **(उत्तमं)** उत्कृष्ट अतीन्द्रिय **(सानन्दं ज्योतिः)** आनन्दमय ज्ञानप्रकाश को **(अन्तः)** अन्तरङ्ग में **(पश्यामि)** देखता हूँ-अनुभव करता हूँ, **(तत् मे)** वही मेरा वास्तविक स्वरूप **(अस्तु)** हो।

टीका :- जो, अर्थात् शरीरादिक को मैं इन्द्रियों से देखता हूँ, वह मेरा नहीं है, अर्थात् वह मेरा स्वरूप नहीं है। तो मेरा रूप क्या ? वह उत्तम ज्योति हो-ज्योति, अर्थात् ज्ञान और उत्तम, अर्थात् अतीन्द्रिय तथा आनन्दमय, अर्थात् परम प्रसन्नता (प्रशान्ति) से उत्पन्न हुए सुख से युक्त है। इस प्रकार की जिस ज्योति को (ज्ञानप्रकाश को) अन्तरङ्ग में मैं देखता हूँ-स्वसंवेदन से मैं अनुभव करता हूँ, वह मेरा स्वरूप अस्तु — हो। मैं कैसा होकर देखता हूँ ? इन्द्रियों को संयमित करके (इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर और स्वयं स्वाधीन होकर), अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखकर (मैं देखता हूँ) ॥५१॥

भावार्थ :- *अन्तरात्मा विचारता है कि :— 'इन्द्रियों द्वारा जो शरीरादि बाह्य पदार्थ दिखते हैं, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप तो परम उत्तम अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञानज्योति है। जब मैं भावइन्द्रियों को नियन्त्रित करके, अर्थात् बाह्य विषयों से हटाकर, अन्तर्मुख होता हूँ, तब मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा को देख सकता हूँ-स्वसंवेदन से अनुभव कर सकता हूँ।'*

ननु सानन्दं ज्योतिर्यद्यात्मनो रूपं स्यात्तदेन्द्रियनिरोधं कृत्वा तदनुभवतः कथं दुःखं स्यादित्याह -

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथाऽऽत्मनि।
बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥ ५२ ॥

बहिर्बाह्यविषये सुखं भवति। कस्य? आरब्धयोगस्य प्रथममात्मस्वरूपभाव-

विशेष स्पष्टीकरण -

जो इन्द्रियों द्वारा दिखता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; वह तो जड़ का-पुद्गल का स्वरूप है। वह आत्मा नहीं है, अनात्मा है। ज्ञानी, आत्मा-अनात्मा के भेदविज्ञान द्वारा शरीरादि परपदार्थों के प्रति उपेक्षा करके, उपयोग को वहाँ से हटाकर, स्वसन्मुख करता है और आत्मस्वरूप में स्थिर होने पर, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है।

ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान होने से वह, आत्म विषय में ही रमने की भावना करता है; बाह्य विषयों में विचरण करना पसन्द नहीं करता।

इसलिए अन्तरात्मा को शरीरादि बाह्य पदार्थों में अनासक्ति होती है। वह ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करता है।

यदि आनन्दमय ज्योति (ज्ञान), आत्मा का स्वरूप है तो इन्द्रियों का निरोध करके उसका अनुभव करनेवाले को दुःख किस प्रकार हो सकता? वह कहते हैं :—

बाहर सुख भासे प्रथम, दुःख भासे निज माँहि।
बाहर दुःख, निजमाँहि सुख, भासे अनुभवी माँहि ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थ :- **(आरब्धयोगस्य)** योग का अभ्यास शुरू करनेवाले को **(बहिः)** बाह्य विषयों में **(सुखं)** सुख मालूम होता है **(अथ)** और **(आत्मनि)** आत्मस्वरूप की भावना में **(दुःखं)** दुःख प्रतीत होता है किन्तु **(भावितात्मनः)** यथावत् आत्मस्वरूप को जानकर, उसकी भावना के अच्छे अभ्यासी को **(बहिः एव)** बाह्य विषयों में ही **(असुखं)** दुःख जान पड़ता है और **(अध्यात्मं)** अपने आत्मस्वरूप में ही **(सौख्यम्)** सुख का अनुभव होता है।

टीका :- बाहर, अर्थात् बाह्य विषयों में सुख लगता है। किसको? योग का आरम्भ

नोद्यतस्य। अथ आहो। आत्मनि आत्मस्वरूपे दुःखं तस्य भवति। भावितात्मनो यथावद्विदितात्मस्वरूपे कृताभ्यासस्य। बहिरेव बाह्यविषयेष्वेवाऽसुखं भवति। अथ आहो। सौख्यं अध्यात्मं तस्याध्यात्मस्वरूप एव भवति॥५२॥

करनेवाले को, अर्थात् प्रथम बार आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यासी को। और कहते हैं- आत्मा में, अर्थात् आत्मस्वरूप में (उसकी भावना में) दुःख (कठिनता) लगता है, परन्तु भावितात्म को, अर्थात् यथावत् जाने हुए आत्मस्वरूप के (उसकी भावना के) अभ्यासी को, बाह्य में ही, अर्थात् बाह्य विषयों में ही असुख (दुःख) भासित होता है; और कहते हैं-आत्मा में, अर्थात् उसके अध्यात्मस्वरूप में ही (उसकी भावना में ही) सुख लगता है॥५२॥

भावार्थ :- *योग का, अर्थात् आत्मस्वरूप को प्रथम बार अनुभव करने का आरम्भ करनेवाले को बाह्य विषयों में सुख जैसा लगता है और आत्मस्वरूप की भावना के अभ्यास में दुःख जैसा ज्ञात होता है परन्तु जब उसको परिपक्व अभ्यास से आत्मस्वरूप का यथार्थरूप से ज्ञान होता है, तब उसको बाह्य विषय, असुखरूप प्रतीत होते हैं और आत्मस्वरूप में ही सुख प्रतिभासित होता है।*

विशेष स्पष्टीकरण-

योग का अभ्यास आरम्भ करनेवाले को, पूर्व के संस्कार के कारण, बाह्य विषयों की ओर का झुकाव शीघ्र नहीं छूटता और इससे उसको आत्मस्वरूप में रमना कठिन लगता है।

जब उसको आत्मभावना का अभ्यास परिपक्व होता है और वह स्वरूप में स्थिर होता है, तब उसको अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है। अब, उसको समस्त बाह्य विषय, नीरस लगते हैं, उसकी रुचि उनसे उड़ जाती है और आत्मस्वरूप में ही विहरना रुचता है।

इसलिए श्री अमृतचन्द्राचार्य देव भी जिज्ञासु जीव को लक्ष्य करके कहते हैं कि :—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

'हे भाई! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी, तत्त्व का कौतूहली बन और

तद्भावनां चेत्थं कुर्यादित्याह -

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ ५३॥

तत् आत्मस्वरूपं ब्रूयात् परं प्रतिपादयेत्। तदात्मस्वरूपं परान् विदितात्मस्वरूपान् पृच्छेत्। तथा तदात्मस्वरूपं इच्छेत् परमार्थतः सन् मन्यते। तत्परो भवेत् आत्मस्वरूपभावनातत्परो भवेत्। येनात्मस्वरूपेणेत्थं भावितेन। अविद्यामयं स्वरूपं बहिरात्मस्वरूपम्। त्यक्त्वा विद्यामयं रूपं परमात्मस्वरूपं व्रजेत्॥५३॥

शरीरादि मूर्तद्रव्यों का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर, उनसे भिन्न, ऐसे तेरे आत्मा का अनुभव कर; तेरे आत्मा के चैतन्य विलास को देखते ही, यह शरीरादिक मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ, एकपने का तेरा मोह छूट जायेगा।' ***(श्री समयसार, कलश-२३)***

वह भावना इस प्रकार करना चाहिए, यह कहते हैं :—

कथन पृच्छना, कामना, तत्परता बढ़ जाय।
ज्ञानमय हो परिणमन, मिथ्याबुद्धि नशाय॥ ५३॥

अन्वयार्थ :- **(तत् ब्रूयात्)** उस आत्मस्वरूप का कथन करे; उसे दूसरों को बतलावे; **(तत् परान् पृच्छेत्)** उस आत्मस्वरूप को दूसरे आत्मानुभवी पुरुषों से-विशेष ज्ञानियों से पूछे, **(तत् इच्छेत्)** उस आत्मस्वरूप की इच्छा करे, उसकी प्राप्ति को अपना इष्ट बनाये, और **(तत्परः भवेत्)** उस आत्मस्वरूप की भावना में सावधान हुआ आदर बढ़ावे, **(येन)** जिससे **(अविद्यामयं रूपं)** यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप **(त्यक्त्वा)** छूटकर, **(विद्यामयं व्रजेत्)** ज्ञानमय परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होवे।

टीका :- उस आत्मस्वरूप का कथन करना, अर्थात् अन्य को समझाना; दूसरों ने, अर्थात् जिन्होंने आत्मस्वरूप जाना हो, उनसे वह आत्मस्वरूप पूछना; तथा उस आत्मस्वरूप की इच्छा करना, अर्थात् उसको परमार्थस्वरूप मानना; उसमें तत्पर रहना, अर्थात् आत्मस्वरूप की भावना का आदर करना; जिससे, अर्थात् इस प्रकार आत्मस्वरूप की भावना करने से, अविद्यामय स्वरूप का, अर्थात् बहिरात्मस्वरूप का त्याग करके, विद्यामयरूप, अर्थात् परमात्मस्वरूप प्राप्त किया जा सके॥५३॥

भावार्थ :- *आत्मस्वरूप की भावना किस प्रकार करना ? इस प्रश्न के उत्तर में आत्मार्थी को लक्ष्य करके आचार्यदेव कहते हैं कि :—*

वह आत्मस्वरूप, अन्य को समझाना; जिन्होंने आत्मस्वरूप को जाना है, उनसे उसके ही विषय में पूछकर उसे जानना; उसकी ही इच्छा रखना, अर्थात् उसे-एक को ही परमार्थ सत्य मानना; और निरन्तर आत्मस्वरूप की भावना में ही लगे रहना — ऐसा करने से बहिरात्मस्वरूप का-अविद्यामय स्वरूप का नाश होगा; परमात्मस्वरूप की, अर्थात् ज्ञानमय स्वरूप की प्राप्ति होगी।

विशेष स्पष्टीकरण -

१. आत्मा सम्बन्धी ही बात कर; संसार सम्बन्धी कोई भी बात मत कर, वैसा करने से बाहर में भ्रमता तेरा उपयोग, तत्त्वनिर्णय की ओर झुकेगा।

२. आत्मा सम्बन्धी अधिक ज्ञान के लिए विशेष ज्ञानियों से पूछ; इससे आत्मा सम्बन्धी तेरी श्रद्धा स्पष्ट होकर दृढ़ होगी और ज्ञान निर्मल होगा।

३. आत्म-प्राप्ति की ही भावना कर; अन्य किसी पर पदार्थ की अथवा इन्द्रिय विषय के सुख की इच्छा न कर — ऐसा करने से बाह्य इन्द्रियसुख के कारण होनेवाली निरर्थक आकुलता मिट जायेगी।

४. आत्मस्वरूप की भावना में ही निरन्तर अभिरत बन।

इस प्रकार तेरे ज्ञान में, श्रद्धा में और आचार में, एक आत्मा को ही विषय बना; अन्य किसी बाह्य पदार्थ को तेरे ज्ञान का विषय मत बना।

श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि :—

'काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहीं मन रोग।' *(आत्मसिद्धि)*

आत्मा ही एक प्रयोजनभूत वस्तु है, उसकी ही प्राप्ति करने योग्य है; उसके सिवाय अन्य पदार्थों का विचार, मन के रोग के समान है।

इस प्रकार समझ कर, धगश और उत्साहपूर्वक यदि तू आत्मभावना करेगा, तो अविद्या का-अज्ञानता का नाश होगा और आत्मस्वरूप की प्राप्ति होगी।

ननु वाक्कायव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽसम्भवात् ''तद्ब्रूयादि'' इत्याद्ययुक्तमिति वदन्तं प्रत्याह -

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः।
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते॥ ५४॥

इष्टोपदेश, श्लोक ४९ में कहा है कि :—

अविद्याभिदूरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः॥

'वह ज्ञानस्वभावरूप ज्योति, अविद्या का–अज्ञान का नाश करनेवाली है तथा महान उत्कृष्ट और ज्ञानमय है; इसलिए मुमुक्षुओं को उसके विषय में ही पूछना, उसकी प्राप्ति की अभिलाषा करनी तथा उसी का अनुभव करना चाहिए।'

तथा अमितगति आचार्यकृत 'योगसार', श्लोक ४९ में कहा है कि :—

अध्येतव्यं स्तिमितमनसा ध्येयमाराधनीयं,
पृच्छयं श्रव्यं भवति विदुषाभ्यस्यमावर्जनीयम्।
वेद्यं गद्यं किमपि तदिह प्रार्थनीयं विनेयं,
दृश्यं स्पृश्यं प्रभवति यतः सर्वदात्मस्थिरत्वम्॥

'जो पुरुष विद्वान है, उसको उस आत्मपदार्थ का निश्चल मन से अध्ययन करना योग्य है; वह ध्यान करने योग्य, आराधना करने योग्य, पूछने योग्य, सुनने योग्य, अभ्यास करने योग्य, उपार्जन करने योग्य, जानने योग्य, कहने योग्य, प्रार्थना योग्य, शिक्षा योग्य, देखने योग्य और स्पर्शने योग्य है, क्योंकि वैसा करने से आत्मा सदा स्थिरपने को प्राप्त होता है।'

वाणी–शरीर से भिन्न, आत्मा का असम्भव होने से उसके विषय में बोलना (पूछताछ करना) इत्यादि योग्य नहीं है — ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं :—

तन–वच तन्मय मूढ चित, जुड़े वचन–तन संग।
भ्रान्ति रहित तन–वचन में, चित को गिने असंग॥ ५४॥

अन्वयार्थ :–**(वाक् शरीरयोः भ्रान्तः)** वचन और शरीर में जिसकी भ्रान्ति हो रही है, जो उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं समझता — ऐसा बहिरात्मा **(वाचि शरीरे च)**

सन्धत्ते आरोपयति। कं आत्मानम्। क्व ? शरीरे वाचि च। कोऽसौ ? मूढः वाक्शरीरयोर्भ्रान्तो वागात्मा शरीरमात्मेत्येवं विपर्यस्तो बहिरात्मा। तयोरभ्रान्तो यथावत्स्वरूपपरिच्छेदकोऽन्तरात्मा पुनः एषां वाक्शरीरात्मनां तत्त्वं स्वरूपं पृथक् परम्परभिन्नं निबुद्धयते निश्चिनोति॥५४॥

वचन और शरीर में **(आत्मानं सन्धत्ते)** आत्मा का आरोपण करता है, अर्थात् वचन को तथा शरीर को आत्मा मानता है, **(पुनः)** किन्तु **(अभ्रान्तः)** वचन और शरीर में आत्मा की भ्रान्ति न रखनेवाला ज्ञानी पुरुष, **(एषां तत्त्वं)** इन शरीर और वचन के स्वरूप को **(पृथक्)** आत्मा से भिन्न **(निबुध्यते)** जानता है।

टीका :- संधान करता है, अर्थात् आरोपित करता है। किसको ? आत्मा को। किसमें ? शरीर और वाणी में। वह मूढ़ कौन है ? वाणी और शरीर में भ्रान्तिवाला, अर्थात् वाणी, वह आत्मा; शरीर, वह आत्मा — ऐसी विपरीत मान्यतावाला बहिरात्मा है परन्तु उन दोनों में जिसको भ्रान्ति नहीं है, अर्थात (उन दोनों के) स्वरूप को यथार्थरूप से जानता है, वह अन्तरात्मा, उनके, अर्थात् वाणी-शरीर और आत्मा के तत्त्व को, अर्थात् स्वरूप को पृथक् — एक-दूसरे से भिन्न जानता है, निश्चित करता है॥५४॥

भावार्थ :- *वास्तव में शरीर और वाणी, पुद्गल की रचना है; वह मूर्तिक जड़ है और आत्मस्वभाव से विपरीत लक्षणवाले है, तथापि अज्ञानी बहिरात्मा, उनमें आत्मबुद्धि करता है, उनको आत्मा मानता है, यह उसका भ्रम है। इस भ्रान्ति के कारण, वह शरीरादि की ही भावना करता है; आत्मा की भावना नहीं करता।*

ज्ञानी अन्तरात्मा को जड़ शरीरादि और चेतन आत्मा के स्वरूप का यथार्थ भेदज्ञान है। वह आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानता है, उसको शरीरादिक में आत्मपने की भ्रान्ति नहीं है। वह शरीर को शरीर और आत्मा को आत्मा ही समझता है; एक की मिलावट, दूसरे में नहीं करता। उसको आत्मा के भिन्न अस्तित्त्व का भान है; इसलिए वह निरन्तर आत्मा की ही भावना करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

देहादि परपदार्थ हैं, वे पर ही हैं, उनको अपना मानने से दुःख होता है किन्तु आत्मा,

एवमवबुद्ध्यमानो मूढात्मा येषु विषयेष्वासक्तचित्तो न तेषु मध्ये किञ्चितस्योपकारकमस्तीत्याह -

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्॥ ५५॥

इन्द्रियार्थेषु पंचेन्द्रियविषयेषु मध्ये न तत्किञ्चिदस्ति यत् क्षेमङ्करमुपकारकम्। कस्य ? आत्मनः। यद्यपि क्षेमङ्करं किञ्चिन्नास्ति। तथापि रमते रतिं करोति। कोऽसौ ?

आत्मा ही है, अर्थात् आत्मपदार्थ अपना (निज) है; वह कभी भी देहादिकरूप नहीं हो सकता। उसके आश्रय से ही सुख की प्राप्ति होती है; इसलिए महापुरुष उसके लिए ही उद्यमशील होते हैं। ***(श्री इष्टोपदेश, श्लोक -४५)***

'मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, सदा अरूपी हूँ, ज्ञान-दर्शनमय हूँ; अन्य कोई एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है' — ऐसा ज्ञानी विचारता है। ***(श्री समयसार, गाथा-३८)***

इस प्रकार ज्ञानी, भेदज्ञान करके परपदार्थों से उदासीन होता है और आत्मा को पृथक् समझकर, आत्मस्वरूप की भावना भाता है।

इस प्रकार से आत्मस्वरूप को नहीं जाननेवाला बहिरात्मा, जिन विषयों में उसका चित्त आसक्त होता है, उनमें (उन विषयों में) कोई भी (विषय) उसको उपकारक नहीं है — ऐसा कहते हैं:—

इन्द्रिय-विषयों में न कुछ, आत्म-लाभ की बात।
तो भी मूढ़ अज्ञानवश, रमता इनके साथ॥ ५५॥

अन्वयार्थ :- **(इन्द्रियार्थेषु)** पाँचों इन्द्रियों के विषय में **(तत्)** ऐसा कोई पदार्थ **(न अस्ति)** नहीं है **(यत्)** जो **(आत्मनः)** आत्मा का **(क्षेमङ्करं)** भला करनेवाला हो। **(तथापि)** तो भी **(बालः)** यह अज्ञानी बहिरात्मा, **(अज्ञान-भावनात्)** चिरकालीन मिथ्यात्व के संस्कारवश **(तत्रैव)** उन्हीं इन्द्रियों के विषयों में **(रमते)** आसक्त रहता है।

टीका :- इन्द्रियों के पदार्थों में, अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के विषयों में ऐसा कोई भी नहीं, जो क्षेमङ्कर (सुखकर), अर्थात् उपकारक हो। किसको ? आत्मा को। वैसा होने पर भी, अर्थात् कोई सुखकर नहीं है तो भी (उनमें) रमता है-रति करता है। कौन वह ? बाल

बालो बहिरात्मा तत्रैव इन्द्रियार्थेष्वेव। कस्मात्? अज्ञानभावनात् मिथ्यात्वसंस्कारवशात् अज्ञानं भाव्यते जन्यते येनासावज्ञानभावनो मिथ्यात्वसंस्कारस्तस्मात्॥५५॥

(अज्ञानी), अर्थात् बहिरात्मा उनमें ही, अर्थात् इन्द्रिय के विषयों में ही (रमता है।) किससे (रमता है)? अज्ञानभावना से, अर्थात् मिथ्यात्व के संस्कारवश (रमता है)। जिनसे अज्ञान जन्मे-पैदा हो, वह अज्ञानभावना, अर्थात् मिथ्यात्व के संस्कार-उनसे (इन्द्रियों के विषयों में रमता है) ॥५५॥

भावार्थ :- *इन्द्रियों के विषयों में ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जो आत्मा को हितकारी हो, तथापि अज्ञानी बहिरात्मा, अनादि काल के अविद्या के संस्कार के कारण उनमें रति करता है-आसक्त रहता है।*

इन्द्रिय-विषयों का सुख, वह सुख नहीं है; वास्तव में वह दुःख ही है क्योंकि वह पराधीन है, आकुलतावाला है, अस्थिर है, क्षणभंगुर है, विच्छिन्न है, परिणामतः दुःसह और बन्ध का कारण है।[1] तथापि अनादि मिथ्यात्व के संस्कारवश अज्ञानी, उनकी रुचि करता है और उनकी प्राप्ति के लिए चिन्ता करके रात-दिन उनके पीछे लगा रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

विषय हितकारी / सुखदायी नहीं हैं, वे 'अकिञ्चित्कर' हैं।

'संसार में अथवा मोक्ष में आत्मा अपने आप ही सुखरूप परिणमता है; उसमें विषय 'अकिञ्चित्कर' हैं, अर्थात् कुछ नहीं करते। अज्ञानी, विषयों को सुख का कारण मानकर, व्यर्थ ही उनका अवलम्बन करते हैं।[2]'

'जिनको विषयों में रति है, उनको दुःख स्वाभाविक जानो, क्योंकि यदि वह दुःख स्वभाव न हो तो विषयार्थ में व्यापार न हो।[3]'

अज्ञानी, बाह्य इन्द्रिय के विषयों में सुख मानता है, निरन्तर उनके ग्रहण की इच्छा से सदा आकुल-व्याकुल रहता है। कितनी ही बार इस आकुलता का दुःख इतना असह्य लगता है

१. श्री प्रवचनसार, गाथा-७६, टीका-भावार्थ
२. श्री प्रवचनसार, गाथा-६७ का भावार्थ
३. श्री प्रवचनसार, गाथा-६४

तथा अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सत्येवम्भूता बहिरात्मानो भवन्तीत्याह -

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति॥ ५६॥

चिरमनादिकालं मूढ़ात्मानो बहिरात्मानः सुषुप्ता अतीव जडतां गतः। केषु? कुयोनिषु नित्यनिगोदादिचतुरशीतिलक्षयोनिष्वधिकरणभूतेषु। कस्मिन् सति ते सुषुप्ताः? तमसि अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सति एवम्भूतास्ते यदि संज्ञिषूत्पद्य कदाचिद्दैववशात्

कि विषय-ग्रहण करने के प्रयत्न में मृत्यु को प्राप्त करना पड़े तो भी उसकी दरकार नहीं करता। इससे सिद्ध है कि मृत्यु के दुःख से भी, आकुलता का दुःख अधिक है।

इस प्रकार इन्द्रियों के विषयों में वास्तविक सुख नहीं होने पर भी, अनादि अविद्या के संस्कार के कारण, अज्ञानी उनमें रत रहता है।

अनादि मिथ्यात्व के संस्कार के कारण ऐसे (प्रकार के) बहिरात्मा होते हैं, वह कहते हैं :—

मोही मुग्ध कुयोनि में, है अनादि से सुप्त।
जागे तो पर को गिने, आत्मा होकर मुग्ध॥ ५६॥

***अन्वयार्थ :*- (मूढात्मानः)** ये मूर्ख अज्ञानी जीव, **(तमसि)** मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के उदयवश **(चिरं)** अनादि काल से **(कुयोनिषु)** नित्यनिगोदादिक कुयोनियों में **(सुषुप्ताः)** सो रहे हैं–अतीव जड़ता को प्राप्त हो रहे हैं। यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियों में उत्पन्न होकर कुछ जागते भी हैं तो **(अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहम्)** अनात्मीयभूत स्त्री-पुत्रादि में 'ये मेरे हैं' और अनात्मीयभूत शरीरादिकों में 'मैं ही इनरूप हूँ' **(इति जाग्रति)** — ऐसा अध्यवसाय करने लगते हैं।

***टीका :*-** चिर काल से–अनादि काल से मूढ़ात्मा, अर्थात् बहिरात्मा सो रहे हैं, अर्थात् अति जड़ता को प्राप्त हुए हैं। कहाँ (सो रहे हैं)? कुयोनियों में, अर्थात् नित्य निगोदादि चौरासी लाख योनियों में। क्या होने से वे उनमें सो रहे हैं ? अन्धकार, अर्थात् अनादि मिथ्यात्व के संस्कार (के वश) होकर (सो रहे हैं) — ऐसे होते हुए (सोये हुए) वे (बहिरात्मा) यदि संज्ञी (जीवों में) उत्पन्न होकर कदाचित्, अर्थात् दैववशात् जागृत हों, तो

बुध्यन्ते तदा ममाहमिति जाग्रति। केषु? अनात्मीयात्मभूतेषुअनात्मीयेषु परमार्थ-तोऽनात्मीयभूतेषु पुत्रकलत्रादिषु ममैते इति जाग्रति अध्यवश्यन्ति। अनात्मभूतेषु शरीरादिषु अहमेवैते इति जाग्रति अध्यवश्यन्ति॥५६॥

वे 'मेरा-मैं' ऐसा अध्यवसाय करते हैं। किसमें? अनात्मीयभूत में और अनात्मभूत में — अनात्मीय में, अर्थात् वास्तव में अनात्मीयभूत / अपने नहीं — ऐसे पुत्र-स्त्री आदि में 'ये मेरे हैं' — ऐसा मानते हैं, अर्थात् ऐसा अध्यवसाय करते हैं; और अनात्मभूत जो शरीरादि उनमें 'यह मैं ही हूँ' — ऐसा अध्यवसाय करते हैं — ऐसी विपरीत मान्यता करते हैं॥५६॥

भावार्थ :- *अनादि काल से यह अज्ञानी जीव, मिथ्यात्व के संस्कारवश नित्य-निगोदादि निंद्य पर्यायों में-चौरासी लाख योनिस्थानों में-ज्ञान की अत्यन्त हीनदशा में, अर्थात् जड़वत मूर्छित अवस्था में पड़ा रहा है। कदाचित् यदि वह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याय प्राप्त करे और थोड़ी ज्ञानशक्ति जागृत हो तो वह अनादि अविद्या के संस्कारों के कारण, स्त्री-पुत्र-मित्रादि जो अपने से प्रत्यक्ष भिन्न हैं, अर्थात् 'अनात्मीय' हैं, उनमें 'ये मेरे हैं' — ऐसी ममकारबुद्धि करता है और शरीरादि जो अपना स्वरूप नहीं है, जो 'अनात्म', अर्थात् जड़ है, उसमें 'यह मैं हूँ' — ऐसी आत्मबुद्धि करता है।*

विशेष स्पष्टीकरण *-*

शरीरादि नोकर्म, शुभाशुभ रागादि भावकर्म, और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध है। वास्तव में वे सब आत्मा से भिन्न हैं; आत्मस्वरूप नहीं; इसलिए वे 'अनात्मभूत' हैं, तथापि अज्ञानी उनको अपना मानता है।

स्त्री-पुत्र-मित्रादि का, आत्मा के साथ प्रत्यक्ष भिन्न संयोग सम्बन्ध है। वास्तव में वे जीव के अपने नहीं हैं; इसलिए वे 'अनात्मीयभूत' हैं।

अज्ञानी, इन अनात्मभूत और अनात्मीयभूत पदार्थों में ममकारबुद्धि और आत्मबुद्धि करके, अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर, अनादि काल से भव-भ्रमण कर रहा है। भव-भ्रमण का मूलकारण, जीव का मिथ्यात्वभाव ही है।

'जो आत्मा, इस प्रकार जीव और पुद्गल के (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और

ततो बहिरात्मस्वरूपं परित्यज्य स्वपरशरीरमित्थं पश्येदित्याह -

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वं व्यवस्थितः ॥ ५७ ॥

आत्मनो देहमात्मसम्बन्धिशरीरं अनात्मचेतसा इदं ममात्मा न भवतीति बुद्धया अन्तरात्मा पश्येत्। निरन्तरं सर्वदा। तथा अन्येषां देहं परेषामात्मा न भवतीति बुद्धया पश्येत्। किं विशिष्टाः ? आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः आत्मस्वरूपनिष्ठः ॥५७॥

अचेतनत्व स्वभाव द्वारा, स्व-पर का विभाग नहीं देखता, वही आत्मा 'यह मैं हूँ-यह मेरा है' — इस प्रकार मोह से परद्रव्य में अपनेपने का अध्यवसान करता है; अन्य नहीं।[१]'

इसलिए बहिरात्मस्वरूप का त्याग करके, स्व-पर के शरीर को इस प्रकार देखना, वह कहते हैं :—

हो सुव्यवस्थित आत्म में, निज काया जड़ जान।
पर काया में भी करे, जड़ की ही पहिचान॥ ५७॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा को चाहिए कि **(आत्मतत्त्वं)** अपने आत्मस्वरूप में **(व्यवस्थितः)** स्थित होकर **(आत्मनः देहं)** अपने शरीर को **(अनात्मचेतसा)** 'यह शरीर, मेरा आत्मा नहीं' — ऐसी अनात्मबुद्धि से **(निरन्तरं पश्येत्)** सदा देखे-अनुभव करे और **(अन्येषां)** दूसरे प्राणियों के शरीर को **(अपरात्मधिया)** 'यह शरीर, पर का आत्मा नहीं' — ऐसी अनात्मबुद्धि से **(पश्येत्)** सदा अवलोकन करे।

टीका :- अपने शरीर को, अर्थात् आत्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाले शरीर को; 'अनात्मबुद्धि' से, अर्थात् 'यह मेरा आत्मा नहीं है' — ऐसी बुद्धि से अन्तरात्मा को निरन्तर -सर्वदा देखना (अनुभवना) तथा अन्य के देह को 'यह पर का आत्मा नहीं है' — ऐसी बुद्धि से देखना। कैसा होकर (वैसा करना) ? आत्मतत्त्व में व्यवस्थित होकर, अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित होकर (वैसा करना) ॥५७॥

भावार्थ :- *ज्ञानियों को आत्मस्वरूप में स्थित होकर, अपने शरीर को अनात्मबुद्धि से*

---

१. श्री प्रवचनसार, गाथा १८३ की टीका

नन्वेवमात्मतत्त्वं स्वयमनुभूय मूढात्मनां किमिति न प्रतिपाद्यते येन तेऽपि तज्जानन्त्विति वदन्तं प्रत्याह -

---

निरन्तर देखना-अनुभवना, अर्थात् 'यह शरीर मेरा नहीं' — ऐसी भेदबुद्धि से सदा जानना। अन्य के शरीर को भी वैसी भेदबुद्धि से देखना, अर्थात् अन्य का शरीर, वह उसका आत्मा नहीं है — ऐसी भेदबुद्धि से सदा देखना।

विशेष स्पष्टीकरण -

आचार्य उपदेशरूप से कहते हैं:— 'हे जीव! तू अनादि से शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि करके, संसार में परिभ्रमण कर दुःखी हुआ है परन्तु अब सुखी होना हो तो देह में आत्मबुद्धि का त्याग करके, आत्मस्वरूप में स्थिर हो, अर्थात् बहिरात्मपना छोड़कर, अब अन्तरात्मा बन! तेरा आत्मा चैतन्यस्वरूप है और तेरा शरीर तो अचेतन है। वह तेरा स्वरूप नहीं है तो भी तू उसको अपना आत्मा मानता है और मानता है कि मैं उसकी क्रिया कर सकता हूँ (किन्तु) वस्तुतः यह तेरा भ्रम है। इस भ्रम को अब छोड़ दे और तेरे शरीर को सदा अनात्मबुद्धि से देख, अर्थात् वह पर है — ऐसा देख; वह मैं हूँ — ऐसी आत्मबुद्धि से मत देख। तेरे आत्मा को शरीरादि से निरन्तर भिन्न अनुभव कर; दोनों की एकताबुद्धि छोड़ दे।

तू तेरे शरीर के सम्बन्ध में जैसी भूल करता है, वैसी ही भूल अन्य जीवों के शरीर के सम्बन्ध में भी करता है। तू उनके शरीर को भी उनका आत्मा मानता है; इसलिए उनके आत्मा को भी उनके शरीर से भिन्न जान। शरीर को शरीर जान और आत्मा को आत्मा जान। स्वस्वरूप में स्थिर होकर जहाँ तक तू स्व-पर का भेदज्ञान नहीं करेगा, वहाँ तक शरीरादि परपदार्थों के साथ तेरी आत्मबुद्धि-एकताबुद्धि-ममत्वबुद्धि-कर्ताबुद्धि हुए बिना नहीं रहेगी और तेरे दुःख का अन्त नहीं आयेगा; इसलिए बहिरात्मपना छोड़कर, आत्मस्वरूप में स्थित हो — यही सुख का उपाय है।

इस प्रकार आत्मतत्त्व का स्वयं अनुभव करके, मूढ़ आत्माओं को क्यों नहीं समझाते, जिससे वे भी यह जाने — ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं :—

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः॥ ५८॥

मूढात्मानो मां आत्मस्वरूपमज्ञापितमप्रतिपादितं यथा न जानन्ति मूढात्मत्वात्। तथा ज्ञापितमपि मां ते मूढात्मत्वादेव न जानन्ति। तत् स्तेषां सर्वथा परिज्ञानाभावात्। तेषां मूढात्मनां सम्बंधित्वेन वृथा मे ज्ञापनश्रमो विफलो मे प्रतिपादन-प्रयासः॥५८॥

कहूँ ना कहूँ मूढ़जन, नहीं जाने निजरूप।
समझाने का श्रम वृथा, खोना समय अनूप॥ ५८॥

अन्वयार्थ :- स्वात्मानुभवमग्न अन्तरात्मा विचारता है कि **(यथा)** जैसे **(मूढ़ात्मानः)** ये मूर्ख अज्ञानी जीव, **(अज्ञापितं)** बिना बताए हुए **(मां)** मेरे आत्मस्वरूप को **(न जानन्ति)** नहीं जानते हैं, **(तथा)** वैसे ही **(ज्ञापितं)** बतलाये जाने पर भी नहीं जानते हैं; **(ततः)** इसलिए **(तेषां)** उन मूढ पुरुषों को **(मे ज्ञापन श्रमः)** मेरा बतलाने का परिश्रम **(वृथा)** व्यर्थ है, निष्फल है।

टीका :- जैसे, मूढ़ आत्माएँ मुझे, अर्थात् आत्मस्वरूप को बिना कहे (बिना समझाये) मूढ़ात्मपने के कारण नहीं जानते; इसी तरह कहने पर भी वे मुझे (आत्मस्वरूप को) मूढ़ात्मपने के कारण ही नहीं जानते; इसलिए उनके सर्वथा परिज्ञान का अभाव होने से, उन मूढ़ात्माओं के सम्बन्ध में बोध करने का (उनको कहने का-समझाने का) मेरा श्रम वृथा (व्यर्थ) है, अर्थात् उनको वह स्वरूप समझाने का मेरा प्रयास विफल (व्यर्थ) है॥५८॥

भावार्थ :- *आत्मानुभवी ज्ञानी जीव विचारता है कि जैसे मूढ़ जीव, अज्ञानता के कारण, बिना समझाये आत्मस्वरूप को नहीं जानते; इसी तरह उनको आत्मस्वरूप समझाया जावे तो भी वे मूढ़पने के कारण समझनेवाले नहीं हैं; इसलिए उनको आत्मस्वरूप समझाने का प्रयत्न व्यर्थ है क्योंकि उनके लिए समझाना या न समझाना — दोनों समान हैं।*

विशेष स्पष्टीकरण -

ज्ञानी, मूर्ख जीवों को आत्मस्वरूप समझाने में उदासीन होते हैं, क्योंकि:—

१. मूर्ख जीव, बहिर्मुख होते हैं। उनकी दृष्टि बाह्य विषयों की ओर ही होती है।

उनको आत्मस्वरूप जानने की जिज्ञासा अथवा रुचि, बिलकुल नहीं होती। वे सदा विषयों में ही रत होते हैं।

२. 'मैं दूसरों को समझा दूँ' — ऐसी बुद्धि, ज्ञानियों के नहीं होती क्योंकि वे जानते हैं कि कोई किसी को समझा नहीं सकता। उनको भलीभांति ख्याल में आता है कि 'प्रत्येक पदार्थ, अपनी-अपनी मर्यादा में स्वयं परिणमता है; कोई किसी के आधीन नहीं है[१], कोई पदार्थ, किसी का परिणमाया परिणमता नहीं है।' एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता — ऐसा विश्व का अफरनियम है;[२] इसलिए ज्ञानियों को पर के सम्बन्ध में कर्ताबुद्धि बिलकुल नहीं होती।

३. ज्ञानी को अस्थिरता के कारण कदाचित् पर को समझाने का विकल्प उत्पन्न होता है परन्तु अभिप्राय में उसका निषेध है क्योंकि भाषावर्गणा का परिणमन, विकल्प से निरपेक्ष है- स्वतन्त्र है। विकल्प के कारण, उपदेश-वाणी निकलती है-ऐसा वे कभी नहीं मानते।

४. मेरा स्वरूप तो जानना-देखना ही है, इसके अतिरिक्त मैं अन्य कुछ नहीं कर सकता। यदि कुछ करने का विकल्प उठता है तो राग उत्पन्न होता है। वाणी का तो मैं कभी कर्ता हूँ ही नहीं और वास्तव में विकल्प का भी कर्ता नहीं हूँ।

५. चैतन्यस्वरूप, स्वसंवेदन गम्य है; उसे वाणी या विकल्प द्वारा अन्य को समझाया जा सके, वैसा नहीं है।

इसलिए ज्ञानी मुख्यतया अन्य को उपदेश देने की प्रवृत्ति में नहीं पड़ते; वे तो सदा अपना आत्महित साधने में ही तत्पर रहते हैं। उनको कदाचित् उपदेशादि की वृत्ति उत्पन्न होती है तो उसकी मुख्यता नहीं है; उस समय भी उनको चैतन्यस्वरूप की ही भावना होती है।

परोपदेश की प्रवृत्ति का विकल्प, वह शुभराग है; वह आत्मस्वरूप की प्राप्ति में बाधारूप है; इसलिए उस राग के व्यामोह में पड़कर ज्ञानी, कभी आत्महित को नहीं भूलते हैं।

'जगत के जीव, उनके कर्म, उनकी लब्धियाँ आदि अनेक प्रकार के हैं; इसलिए सभी

---

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-५२ २. श्री समयसार, गाथा-१०३

किंच -

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये॥ ५९॥

यत् विकल्पाधिरूढमात्मस्वरूपं देहादिकं वा बोधयितुं ज्ञापयितुमिच्छामि। तन्नाहं तत्स्वरूपं, नाहमात्मस्वरूपं परमार्थतो भवामि। यदहं पुनः यत्पुनरहं

जीव समान विचार के हों, यह होना असम्भवित है; अतः परजीवों को समझा देने की आकुलता करना योग्य नहीं है। स्वात्मावलम्बनरूप निजहित में प्रमाद न हो, वैसे रहना ही कर्तव्य है।[१]

फिर :—

समझाना चाहूँ जिसे, वह नहीं मेरा अर्थ।
नहीं अन्य से ग्राह्य मैं, क्यों समझाऊँ व्यर्थ ?॥ ५९॥

अन्वयार्थ :-(**यत्**) जिसे, अर्थात् विकल्पाधिरूढ आत्मस्वरूप को अथवा देहादिक को — (**बोधयितुं**) समझाने-बुझाने की (**इच्छामि**) मैं इच्छा करता हूँ-चेष्टा करता हूँ, (**तत्**) वह (**न अहं**) मैं नहीं, अर्थात् आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं। (**पुनः**) और (**यत्**) जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्मस्वरूप (**अहं**) मैं हूँ, (**तदपि**) वह भी (**अन्यस्य**) दूसरे जीवों के (**ग्राह्यं न**) उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है; वह तो स्वसंवेदन के द्वारा अनुभव किया जाता है; (**तत्**) इसलिए (**अन्यस्य**) दूसरे जीवों को (**किं बोधये**) मैं क्या समझाऊँ ?

टीका :- जिसका, अर्थात् विकल्पाधिरूढ़ आत्मस्वरूप का अथवा देहादिक का मैं बोध कराना चाहता हूँ — जिसे समझाना चाहता हूँ, वह (तो) मैं नहीं, अर्थात् उन (विकल्पाधिरूढ़ स्वरूप) मैं नहीं — परमार्थ से आत्मस्वरूप नहीं। फिर जो मैं, अर्थात् फिर मैं जो चिदानन्दमय

---

१. **णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी। तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥**

अर्थात्, नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार का कर्म है, नाना प्रकार की लब्धि है; इसलिए स्वसमयों तथा परसमयों के साथ (स्वधर्मियों तथा परधर्मियों के साथ) वचनविवाद वर्जनेयोग्य है।

(श्री नियमसार, गाथा १५६ व अर्थ)

चिदानन्दात्मकं स्वसंवेद्यमात्मस्वरूपं। तदपि ग्राह्यं नान्यस्य स्वसंवेदने न तदनुभूयत इत्यर्थः। तत्किमन्यस्य बोधय तत्तस्मात्किं किमर्थं अन्यस्यात्मस्वरूपं बोधयेऽहम् ॥५९ ॥

बोधितेऽपि चान्तस्तत्त्वे बहिरात्मनो न तत्रानुरागः सम्भवति। मोहोदयात्तस्य बहिरर्थ एवानुरागादिति दर्शयन्नाह -

स्वसंवेद्य आत्मस्वरूप हूँ, वह भी अन्य को स्वयं ग्राह्य (समझ में आवे, वैसा) नहीं, (क्योंकि) वह स्वसंवेदन से अनुभव में आता है — ऐसा अर्थ है। अतः दूसरों को मैं क्या बोध करूँ? अर्थात्, इसलिए मैं दूसरे को किसलिए आत्मस्वरूप का बोध करूँ? ॥५९ ॥

भावार्थ : *- मूढ़ात्मा को आत्मस्वरूप का बोध देना व्यर्थ है, इसका कारण बताते हुए ज्ञानी कहते हैं कि :—*

मैं अन्य को शब्दों द्वारा आत्मस्वरूप समझाना चाहूँ तो विकल्प-राग उत्पन्न होता है और राग, आत्मा का शुद्धस्वरूप नहीं है; अर्थात् शब्दों द्वारा आत्मा का स्वरूप नहीं समझाया जा सकता।

तथा जो आत्मा का वास्तविक शुद्धस्वरूप है, वह अन्य को शब्दों द्वारा समझ में आवे, वैसा नहीं है; वह तो केवल स्वसंवेदन से ही अनुभव में आवे, वैसा है; इसलिए अन्य को उसका बोध करना व्यर्थ है।

आत्मस्वरूप, स्वसंवेदनगोचर है।[1] वह शब्दों के द्वारा अथवा विकल्प के द्वारा अन्य को समझाया जा सके, वैसा नहीं है और दूसरे शब्दादि बाह्य साधन से वह कभी समझ भी नहीं सकते। जैसे, मैंने स्वसंवेदन से आत्मा का अनुभव किया है, वैसे ही अन्य भी स्वसंवेदन से ही उसका अनुभव कर सकते हैं; इसलिए अन्य को आत्मस्वरूप का बोध देने का विकल्प छोड़कर, स्वरूप में सावधान रहना ही योग्य है।

आत्मस्वरूप का बोध देने पर भी बहिरात्मा को, उसमें अनुराग सम्भवता (होता) नहीं; मोह के उदय से उसको बाह्य पदार्थ में ही अनुराग होता है — ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं :—

१. जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में, कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।
उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ, अनुभवगोचारमात्र रहा वह ज्ञान जब॥
(श्रीमद् राजचन्द्र, अपूर्व अवसर, काव्य-२०)

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।
तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः॥ ६०॥

बहिः शरीराद्यर्थे तुष्यसि प्रीतिं करोति। कोऽसौ? मूढात्मा। कथम्भूतः? पिहितज्योतिर्मोहाभिभूतज्ञानः। क्व? अन्तरे अन्तस्तत्त्वविषये। प्रबुद्धात्मा मोहाभिभूतज्ञानः अन्तस्तुष्यति स्वस्वरूपे प्रीतिं करोति। किंविशिष्टः सन्? बहिर्व्यावृत्तकौतुकः शरीरादौ निवृत्तानुरागः॥६०॥

आवृत अन्तर ज्योति हो, बाह्य विषय में तुष्ट।
जागृत जग-कौतुक तजे, अन्दर से सन्तुष्ट॥ ६०॥

अन्वयार्थ :-**(अन्तरे पिहितज्योतिः)** अन्तरङ्ग में जिसकी ज्ञानज्योति मोह से आच्छादित हो गयी है, जिसे स्वरूप का विवेक नहीं — ऐसा **(मूढात्मा)** बहिरात्मा, **(बहिः)** बाह्य शरीरादि परपदार्थों में **ही (तुष्यति)** सन्तुष्ट रहता है — अनुराग करता है, किन्तु **(प्रबुद्धात्मा)** जिसे स्वरूप-विवेक जागृत हुआ है — ऐसा अन्तरात्मा, **(बहिर्व्यावृत्त-कौतुकः)** बाह्य शरीरादि पदार्थों में कौतुक-अनुराग रहित होकर **(अन्तः)** अन्तरङ्ग आत्मस्वरूप में ही **(तुष्यति)** सन्तोष करता है-मग्न रहता है।

टीका :- बाह्य में, अर्थात् शरीरादि पदार्थ में ही वह संतोष करता है-प्रीति करता है। वह कौन? मूढ़ात्मा (बहिरात्मा)। वह कैसा है? जिसकी ज्योति ढ़ँक गयी है, अर्थात् मोह से जिसका ज्ञान, पराभव को प्राप्त हुआ है। कहाँ? अन्तरङ्ग में, अर्थात् अन्तरतत्त्व के विषय में। प्रबुद्धात्मा, अर्थात् जिसका ज्ञान, मोह से अभिभूत नहीं हुआ (पराभव को प्राप्त नहीं हुआ) वैसा (आत्मस्वरूप में जागृत) आत्मा; अन्तरङ्ग मैं सन्तोष करता है-स्वस्वरूप में प्रीति करता है। कैसा होकर? बाह्य में कौतूकरहित होकर — शरीरादि में अनुरागरहित होकर (आत्मस्वरूप में प्रीति करता है) ॥६०॥

भावार्थ :- *ज्ञानी को प्रश्न पूछा कि — 'तुम बहिरात्मा को आत्मस्वरूप का बोध क्यों नहीं करते?' उसके प्रत्युत्तर में ऐसा कहा कि :—*

१. बहिरात्माएँ, वस्तुस्वरूप से अत्यन्त अज्ञात (अजान) हैं; वे इतने मूढ़ हैं कि उनको बोध करो या न करो, उनके लिए वह सब समान है। (श्लोक ५८)

कुतोऽसौ शरीरादिविषये निवृत्तभूषणमण्डनादिकौतुक इत्याह -

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते॥ ६१॥

२. आत्मस्वरूप, स्वसंवेदनगम्य है; वह शब्दों द्वारा अन्य को समझाया नहीं जा सकता और वह समझते भी नहीं; इसलिए उनको बोध करना व्यर्थ है। (श्लोक ५९)

३. इस श्लोक में कहा है कि :—

अनादि मिथ्यात्व के कारण बहिरात्मा को स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं है। उसको आत्मस्वरूप का भान नहीं है; इसलिए वह शरीरादि बाह्यपदार्थों में ही आनन्द मानता है, उनमें ही अनुराग करता है परन्तु आत्मस्वभाव की महिमा लाकर, उसमें प्रीति नहीं करता। उसका कारण — उसका ज्ञान, अविद्या के गाढ़ संस्कार से मूर्छित हो गया है-आच्छादित हो गया है; वह है।

अन्तरात्मा को विवेकज्योति प्रगट हुई है; इसलिए उसको शरीरादि बाह्यपदार्थों में प्रीति नहीं है; उनमें उसे कहीं सुख भासित नहीं होता; वह उस ओर से बहुत उदासीन रहता है। वह वहाँ से हटकर स्वसन्मुख होकर आत्मस्वरूप में स्थित होने के लिए सदा प्रयत्नशील है। जहाँ उसको ऐसी ज्ञानदशा वर्तती हो, वहाँ उसे अन्य को बोध देना रुचिकर कैसे लगा सकता है? रुचिकर नहीं लगता है।

वह (अन्तरात्मा) किस कारण से शरीरादि के विषय में भूषणमण्डनादि में अनुरागरहित (उदासीन) होता है, वह कहते हैं :—

काया को होती नहीं, सुख-दुःख की अनुभूति।
पोषण-शोषण यत्न से, करते व्यर्थ कुबुद्धि॥ ६१॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा विचारता है कि — **(शरीराणि)** ये शरीर **(सुख-दुःखानि न जानन्ति)** जड़ होने से सुखों तथा दुःखों को नहीं जानते हैं, **(तथापि)** तो भी **(ये)** जो जीव **(अत्रैव)** इन शरीरों में ही **(निग्रहानुग्रहधियं)** उपवासादि द्वारा दण्डरूप निग्रह की और अलंकारादि द्वारा अलंकृत करनेरूप अनुग्रह की बुद्धि **(कुर्वते)** धारण करते हैं, **(ते)** वे जीव **(अबुद्धयः)** मूढ़बुद्धि हैं-बहिरात्मा हैं।

सुखदुःखानि न जानन्ति। कानि शरीराणि जडत्वात्। अबुद्धयो बहिरात्मानः। तथापि यद्यपि जानन्ति तथापि। अत्रैव शरीरादावेव कुर्वते। कां ? निग्रहानुग्रहधियं द्वेषवशादुपवासादिना शरीरादेः कदर्थनाभिप्रायो निग्रहबुद्धिं रागवशात्कटकटिसूत्रादिना भूषणाभिप्रायोऽनुग्रहबुद्धिम्॥६१॥

टीका :- सुख-दुःख जानता नहीं। कौन (नहीं जानता) ? शरीर, जड़पने के कारण (नहीं जानता); बुद्धिरहित बहिरात्माएँ; ऐसा होने पर भी, अर्थात् (शरीर) जानता नहीं, तथापि उनमें ही — शरीरादि में ही करते हैं। क्या (करते हैं) ? निग्रह-अनुग्रह की बुद्धि (करते हैं), अर्थात् द्वेष के आधीन होकर, उपवासादि द्वारा शरीर को कृश करने का अभिप्राय, वह निग्रहबुद्धि और राग के आधीन होकर, कंकण, कटिसूत्रादि द्वारा (शरीरादिक को) भूषित करने का (शृंगारित करने का) अभिप्राय, वह अनुग्रहबुद्धि करते हैं॥६१॥

भावार्थ :- *शरीर, अचेतन-जड़ हैं; न तो उनमें सुख-दुख है और न ज्ञान है, तथापि बुद्धिरहित बहिरात्मा, द्वेषवश उपवासादि द्वारा उनको (शरीरों को) निग्रह करने की, अर्थात् कृश करने की बुद्धि करते हैं और रागवश उनको कंकण, कटिसूत्र (करधनी) आदि द्वारा विभूषित कर अनुग्रह (कृपा) करने की बुद्धि करते हैं।*

बहिरात्मा को देहाध्यास है, अर्थात् उसको देह में आत्मबुद्धि है; इसलिए उसको शरीरादि के विषय में निग्रह-अनुग्रहबुद्धि रहती है, परन्तु अन्तरात्मा को भेदज्ञान वर्तता है। वह आत्मा को शरीरादि से अत्यन्त भिन्न मानता है। उसको उनके साथ एकताबुद्धि नहीं है, इससे उसको शरीरादि के प्रति श्रद्धा में अनुग्रह-निग्रहबुद्धि का अभाव होता है। अस्थिरता के कारण शरीरादि के शृंगार का भाव आवे परन्तु अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है। वह उस भाव को दोष मानता है; इसलिए वह शरीरादि परपदार्थों के प्रति उदासीन होता है।

***विशेष स्पष्टीकरण** -*

अज्ञानी मानते हैं कि शरीराश्रित उपवास, व्रत, नियमादि से शरीर को कृश करने से इन्द्रियों का निग्रह होता है, उनकी विषयों में प्रवृत्ति रुक जाती है और इस कारण राग-द्वेषादि नहीं होते हैं परन्तु यह मान्यता भूलयुक्त है, क्योंकि शरीराश्रित उपवास करना, पंचाग्नि तप करना, मौन रखना, अनेक योग आसन करना-इत्यादि पौद्गलिक जड़ क्रियाएँ हैं; उनका

यावच्च शरीरादावात्मबुद्ध्या प्रवृत्तिस्तावत्संसारः तदभावान्मुक्तिरितिदर्शयन्नाह -

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम्।
संसार तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः॥ ६२॥

स्वबुद्ध्या आत्मबुद्ध्या यावद् गृण्हीयात्। किं? त्रयम्। केषाम्? काय-वाक्चेतसां सम्बन्धमिति पाठः। तत्र कायवाक्चेतसां त्रयं कर्तृं। आत्मनि यावत्सम्बन्धं

सम्बन्ध शरीर के साथ है; आत्मा के साथ नहीं। शरीर, जड़ है; उसको सुख-दुःख नहीं होता। अज्ञानी को शरीर के साथ एकताबुद्धि है; इसलिए वह शरीर की जो अवस्था होती है, उसे अपनी (आत्मा) की हुई मानता है। यह उसका भ्रम है।

अज्ञानी, मोहवशात् वस्त्र-आभूषणादि द्वारा शरीर पर अनुग्रह (उपकार) करने की बुद्धि करता है क्योंकि उसको देहाध्यास है, अर्थात् शरीर में आत्मबुद्धि है; इसलिए उसके प्रति के राग के कारण वैसा अनुग्रह करना चाहता है परन्तु यह भी उसका भ्रम है।

इसलिए शरीर में निग्रह-अनुग्रहबुद्धि करना अज्ञानता है।

जब तक शरीरादि में आत्मबुद्धि से प्रवृत्ति है, तब तक संसार है; उसके अभाव से मुक्ति है — यह दर्शाते हुए कहते हैं :—

'हैं मेरे मन-वचन-तन' - यही बुद्धि संसार।
इनके भेद-अभ्यास से, होते भविजन पार॥ ६२॥

अन्वयार्थ :- **(यावत्)** जब तक **(कायवाक्चेतसां त्रयम्)** शरीर, वचन और मन — इन तीनों को **(स्वबुद्ध्या)** आत्मबुद्धि से **(गृह्णीयात्)** ग्रहण किया जाता है, **(तावत्)** तब तक **(संसारः)** संसार है **(तु)** और जब **(एतेषां)** इन मन, वचन, काय का **(भेदाभ्यासे)** आत्मा से भिन्न होनेरूप अभ्यास किया जाता है, तब **(निर्वृत्तिः)** मुक्ति की प्राप्ति होती है।

टीका :- स्वबुद्धि से, अर्थात् आत्मबुद्धि से जहाँ तक ग्रहण करता है। क्या ग्रहण करता है? त्रय को (तीन को); किसके (त्रय को)? काय, वाणी और मन के त्रय को, अर्थात् जहाँ तक आत्मा में काय-वाणी-मन का सम्बन्ध ग्रहण करता है-स्वीकार करता है, ऐसा अर्थ है। वहाँ तक संसार है परन्तु इन काया-वाणी-मन के भेद का अभ्यास होने पर, अर्थात् आत्मा

गृण्हीयात्स्वीकुर्यादित्यर्थः। तावत्संसारः। एतेषां कायवाक्चेतसां भेदाभ्यासे तु आत्मनः सकाशात् कायवाक्चेतांसि भिन्नानीति भेदाभ्यासे भेदभावनायां तु पुनर्निर्वृत्तिः मुक्तिः ॥६२॥

से काय-वाणी-मन भिन्न है — ऐसे भेद का अभ्यास होने पर-भेदभावना होने पर, निवृत्ति, अर्थात् मुक्ति होती है।

भावार्थ :- *जब तक जीव को मन-वचन-काय में आत्मबुद्धि रहती है, उसको आत्मा के अङ्ग समझता है, अर्थात् उनके साथ अभेदबुद्धि-एकताबुद्धि करता है, वहाँ तक वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है परन्तु जब उसको मन-वचन-काय में आत्मबुद्धि का भ्रम मिट जाता है, अर्थात् तीनों 'आत्मा से भिन्न हैं' — ऐसे निश्चयपूर्वक अनुभव का अभ्यास होता है, तब वह संसार-बन्धन से मुक्ति पाता है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

जहाँ शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि है, वहाँ एकताबुद्धि है। जहाँ एकताबुद्धि होती है, वहाँ कर्ता-भोक्ताबुद्धि अवश्य होती है और जहाँ कर्ताबुद्धि है, वहाँ संसार के कारणभूत रागादि भाव अनिवार्यरूप से होते हैं। इस प्रकार शरीरादि परपदार्थों में आत्मबुद्धि ही संसार का कारण है और आत्मा तथा शरीरादि का भेदविज्ञानपूर्वक दृढ़ अभ्यास ही मुक्ति का कारण है।

मन-वचन-काय की प्रवृत्ति, संसार का कारण नहीं है क्योंकि वह जड़ की क्रिया है परन्तु उसमें आत्मबुद्धि-एकताबुद्धि करना, वह संसार का कारण है। प्रस्तुत श्लोक में 'स्वबुद्धया' शब्द से यह बात सूचित होती है।

'कर्मबन्ध करनेवाला कारण न तो बहु कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है; न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात्, मन-वचन-काय की क्रियारूप योग) है; न अनेक प्रकार के करण हैं; और न चेतन-अचेतन का घात है। किन्तु 'उपयोग भू', अर्थात् आत्मा, रागदि के साथ जो एक्य को प्राप्त होता है, वही एकमात्र (मात्र रागादि के साथ एकत्व प्राप्त करना, वही) वास्तव में पुरुषों के बन्ध का कारण है।'[१]

१. श्री समयसार, कलश १६४ व गाथा २३७ से २४१

शरीरादावात्मनो भेदाभ्यासे च शरीरदृढतादौनात्मनो दृढतादिकं मन्यते इति दर्शयन् घनेत्यादि श्लोकचतुष्टयमाह -

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा।
घने स्वदेहेप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥ ६३ ॥

घने निविडावयवे वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं घनं दृढावयवं यथा बुधो न मन्यते। तथा स्वदेहेऽपि घने दृढे आत्मानं घनं दृढं बुधो न मन्यते॥६३॥

इसलिए शरीरादि की क्रिया में आत्मबुद्धि, अर्थात् उन क्रियाओं को मैं करता हूँ — ऐसी मान्यता, संसार का कारण है और उन क्रियाओं में आत्मबुद्धि का अभाव, मोक्ष का कारण है।

शरीरादि में आत्मा का भेदाभ्यास होने पर, वह (अन्तरात्मा) शरीर की दृढ़तादि होने पर, आत्मा की दृढ़तादिक नहीं मानता-ऐसा बतलाकर 'घने' इत्यादि चार श्लोक कहते है :—

मोटा कपड़ा पहनकर, मानें नहीं तन पुष्ट।
त्यों बुध तन की पुष्टि से, गिने न आत्मा पुष्ट ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थ :- **(यथा)** जिस प्रकार **(वस्त्र घने)** गाढ़ा वस्त्र पहन लेने पर **(बुधः)** बुद्धिमान पुरुष, **(आत्मानं)** अपने को-अपने शरीर को **(घनं)** गाढ़ा अथवा पुष्ट **(न मन्यते)** नहीं मानता है, **(तथा)** उसी प्रकार **(स्वदेहेऽपि घने)** अपने शरीर के भी गाढ़ा अथवा पुष्ट होने पर **(बुधः)** अन्तरात्मा, **(आत्मानं)** आत्मा को **(घनं न मन्यते)** मोटा-पुष्ट नहीं मानता है।

टीका :- घन, अर्थात् गाढ़ा (मोटा) वस्त्र पहिनने से, जैसे बुध (चतुर पुरुष) अपने शरीर को मोटा-पुष्ट नहीं मानता; इसी प्रकार अपना शरीर, मोटा-पुष्ट होने पर भी बुध (अन्तरात्मा), आत्मा को मोटा-पुष्ट नहीं मानता।

भावार्थ :- *जैसे चतुर पुरुष, मोटा वस्त्र पहिनने से अपने को मोटा हुआ नहीं मानता; इसी तरह शरीर मोटा होने पर, आत्मा मोटा हुआ — ऐसा अन्तरात्मा कभी नहीं मानता।*

जैसे, शरीर और वस्त्र भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी एक-दूसरे से भिन्न हैं। ऐसा होने पर भी, देह में आत्मबुद्धि के कारण अज्ञानी जीव, शरीर की पुष्टि से, आत्मा की पुष्टि मानता है; इस मान्यता से वह अच्छे खान-पानादि से शरीर को पुष्ट करने की

***जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।**
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः॥ ६४॥

जीर्णे पुराणे वस्त्रे प्रावृत्ते यथाऽऽत्मानं जीर्णं न मन्यते। तथा जीर्णे वृद्धे स्वदेहेऽपि स्थितमात्मानं न जीर्णं वृद्धमात्मानं मन्यते बुधः॥६४॥

बुद्धि करता है परन्तु ज्ञानी इस विषय में उदासीन रहता है, क्योंकि वह शरीर की पुष्टि से आत्मा की पुष्टि कभी नहीं मानता। उसको शरीर और आत्मा–दोनों का भेदज्ञान वर्तता है; इसलिए वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र से ही अपने आत्मा की पुष्टि मानता है।

वस्त्र जीर्ण से जीर्ण तन, माने नहीं बुधिवान।
त्यों न जीर्ण तन से गिनें, जीर्ण आत्म मतिमान॥ ६४॥

अन्वयार्थ :– **(यथा)** जिस प्रकार **(वस्त्रे जीर्णे)** पहने हुए वस्त्र के जीर्ण होने पर **(बुधः)** बुद्धिमान पुरुष, **(आत्मानं)** अपने को–अपने शरीर को **(जीर्णं न मन्यते)** जीर्ण नहीं मानता है; **(तथा)** उसी प्रकार **(स्वदेहे अपि जीर्णे)** अपने शरीर के भी जीर्ण हो जाने पर **(बुधः)** अन्तरात्मा, **(आत्मानं)** आत्मा को **(जीर्णं न मन्यते)** जीर्ण नहीं मानता है।

टीका :– जीर्ण, अर्थात् पुराना वस्त्र पहिनने पर भी, जैसे वुध (चतुर मनुष्य) अपने को (अपने शरीर को) जीर्ण नहीं मानता; इसी तरह अपना देह, जीर्ण–वृद्ध होने पर भी, वह अन्तरात्मा (शरीर में) रहे हुए आत्मा को जीर्ण–वृद्ध नहीं मानता॥६४॥

भावार्थ :– *जैसे, चतुर मनुष्य, पहिने हुए वस्त्र जीर्ण होने पर भी, अपने शरीर को जीर्ण हुआ नहीं मानता; इसी तरह अन्तरात्मा, शरीर जीर्ण होने पर, अपने आत्मा को जीर्ण नहीं मानता।*

जैसे, वस्त्र और शरीर भिन्न–भिन्न हैं; एक के परिणमन से दूसरे का परिणमन नहीं होता; इसी तरह शरीर और आत्मा एक–दूसरे से भिन्न होने से, शरीर के जीर्णरूप परिणमन से, आत्मा का जीर्णरूप परिणमन नहीं होता।

---

* **जिण्णिँ वत्थिँ जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु। देहिँ जिण्णिँ णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु॥**
अर्थात्, जैसे बुद्धिमान, जीर्ण वस्त्र से शरीर को जीर्ण नहीं मानता; उसी प्रकार ज्ञानी, जीर्ण शरीर से आत्मा को जीर्ण नहीं मानते। *(श्री परमात्मप्रकाश, योगीन्द्रदेव, २/१७९)*

***नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा।**
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः॥ ६५॥

प्रावृत्ते वस्त्रे नष्टे सति आत्मानं यथा नष्टं बुधो न मन्यते तथा स्वदेहेऽपि नष्टे कुतश्चित्कारणाद्विनाशं गते आत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः॥६५॥

विशेष स्पष्टीकरण -

शरीर, जीर्ण हो, रोग ग्रस्त हो, तो भी जीव आत्महित कर सकता है-ऐसा ज्ञानी जानते हैं और मानते हैं; इसलिए शरीर की प्रतिकूलता में भी उनकी आत्मप्रवृत्ति चालू ही रहती है।

अज्ञानी को शरीर के साथ एकताबुद्धि होने से, वह शरीर की प्रतिकूलता में आत्महित के लिए अपने को असमर्थ समझता है। वह तो यही मानता है कि शरीर स्वस्थ हो-निरोगी हो, तभी धर्म होता है; जीर्ण या रोगग्रस्त शरीर से धर्म नहीं होता-यह उसका भ्रम है।

वस्त्र फटे माने नहीं, बुद्धिमान तन-नाश।
त्यों तन-नाश से, बुधजन गिनते नहीं विनाश॥ ६५॥

अन्वयार्थ :- **(यथा)** जिस तरह **(वस्त्रे नष्टे)** कपड़े के नष्ट हो जाने पर **(बुधः)** बुद्धिमान पुरुष, **(आत्मानं)** अपने शरीर को **(नष्टं न मन्यते)** नष्ट हुआ नहीं मानता है; **(तथा)** उसी तरह **(बुधः)** अन्तरात्मा, **(स्वदेहे अपि नष्टे)** अपने शरीर के नष्ट हो जाने पर, **(आत्मानं)** अपने आत्मा को **(नष्टं न मन्यते)** नष्ट हुआ नहीं मानता है।

टीका :- जैसे, पहिना हुआ वस्त्र नष्ट होने पर, चतुर मनुष्य अपने शरीर का नाश हुआ नहीं मानता; इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर, अन्तरात्मा अपने आत्मा को नाश पाता हुआ नहीं मानता॥६५॥

भावार्थ :- *जैसे, पहिना हुआ वस्त्र नष्ट होने से चतुर मनुष्य, अपने शरीर*

* **वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठ। णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु॥**
अर्थात्, जैसे बुद्धिमान, वस्त्र के नाश से शरीर का नाश नहीं मानते हैं; उसी प्रकार ज्ञानी, शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं मानते हैं। *(-श्री परमात्मप्रकाश, योगीन्द्रदेव, २/१८०)*

का नाश नहीं मानता; इसी प्रकार शरीर का नाश होने पर अन्तरात्मा, अपने आत्मा को नष्ट हुआ नहीं मानता।

जैसे, वस्त्र और शरीर भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं।

शरीर और आत्मा का संयोग सम्बन्ध है, तथापि अज्ञानी को उन दोनों की एकताबुद्धि होने से, वह शरीर के वियोग से (नाश से) अपने आत्मा का नाश मानता है और उसके संयोग से, अपने आत्मा की उत्पत्ति मानता है। कहा है कि:—

'तन उपजत अपनी उपज जान,
तन नशत आपको नाश मान॥'[१]

अर्थात्, *मिथ्यादृष्टि, शरीर की उत्पत्ति में, आत्मा का जन्म मानता है और शरीर के नाश को, आत्मा का नाश मानता है।*

विशेष स्पष्टीकरण –

मिथ्यादृष्टि को शरीर में आत्मबुद्धि होने से ऐसी विपरीत मान्यता होती है, उसको पर के शरीर के सम्बन्ध में भी ऐसा ही भ्रम होता है। स्त्री या पुत्र के शरीर का नाश होने पर, उनके आत्मा का नाश मानकर, वह दुःखी होता है।

'.......जैसे, कोई नवीन वस्त्र पहिने, कितने ही काल वह रहे, तत्पश्चात् उसको छोड़कर अन्य नवीन वस्त्र पहने, इसी तरह जीव भी नवीन शरीर धारण करे, उसे कितने ही काल धारण किये रहे, फिर उसको भी छोड़कर अन्य नवीन शरीर धारण करता है। इसलिए शरीर सम्बन्ध की अपेक्षा से जन्मादि है। जीव, स्वयं जन्मादि रहित नित्य है, तो भी मोही जीव को भूत-भविष्य का विचार न होने से, पर्यायमात्र ही अपना अस्तित्त्व मानकर, पर्याय सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर रहा करता है।'[२]

ज्ञानी को शरीर और आत्मा का भेदज्ञान है; इसलिए वह शरीर के नाश के समय व्याकुल नहीं होता। कदाचित् अस्थिरता के कारण अल्प आकुलता होती है परन्तु श्रद्धा और ज्ञान में

---

१. छहढाला, दूसरी ढाल, काव्य-५, २. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४३

***रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा।**
रक्ते स्वदेहेऽऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥ ६६ ॥

रक्ते वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं यथा बुधो न रक्तं मन्यते तथा स्वदेहेऽपि कुसुम्भादिना रक्ते आत्मानं रक्तं न मन्यते बुधः ॥६६ ॥

वह ऐसा दृढ़ है कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश कभी नहीं मानता और आकुलता का स्वामी नहीं होता।

रक्त वस्त्र से नहीं गिनें, बुधजन तन को लाल।
रक्त देह से ज्ञानीजन, गिने न चेतन लाल॥ ६६ ॥

अन्वयार्थ :- **(यथा)** जिस प्रकार **(वस्त्रं रक्ते)** पहना हुआ वस्त्र, लाल होने पर भी **(बुधः)** बुद्धिमान पुरुष, **(आत्मानं)** अपने शरीर को **(रक्तं न मन्यते)** लाल नहीं मानता है; **(तथा)** उसी तरह **(स्वदेहे अपि रक्ते)** अपने शरीर के लाल होने पर भी **(बुधः)** अन्तरात्मा, **(आत्मानं)** अपने आत्मा को **(रक्तं न मन्यते)** लाल नहीं मानता है।

टीका :- जैसे, लाल वस्त्र पहिनने पर भी चतुर पुरुष, अपने को (अपने शरीर को) लाल नहीं मानता; इसी प्रकार अपनी देह, कुंकुमादि से लाल होने पर भी अन्तरात्मा, आत्मा को लाल नहीं मानता ॥६६ ॥

भावार्थ :- *जैसे, पहिने हुए लाल वस्त्र से शरीर लाल नहीं होता; इसी प्रकार अपना शरीर कुंकुमादि से लाल होने पर भी, आत्मा कहीं लाल वर्ण का नहीं हो जाता।*

जैसे, लाल वस्त्र और शरीर भिन्न-भिन्न हैं; इसी तरह लालवर्णवाला शरीर और आत्मा भी भिन्न-भिन्न हैं।

आत्मा, रस, वर्ण[1], गन्ध और स्पर्शरहित है, तथापि शरीर के साथ एकताबुद्धि होने से

---

* **रत्तैं वत्थैं जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु। देहिँ रत्तिँ णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु॥**

अर्थात्, जैसे बुद्धिमान, लाल वस्त्र से शरीर को लाल नहीं मानता, उसी प्रकार ज्ञानी, लाल शरीर से आत्मा को लाल नहीं मानता। *(-श्री परमात्मप्रकाश, श्री योगीन्द्रदेव, २/१७८)*

१. **जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो।**
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं॥

अर्थात्, जीव के वर्ण नहीं, गन्ध भी नहीं, रस भी नहीं, और स्पर्श भी नहीं, रूप भी नहीं, शरीर भी नहीं, संस्थान भी नहीं, संहनन भी नहीं। *(श्री समयसार, गाथा-५०)*

एवं शरीरादिभिन्नमात्मानं भावयतोऽन्तरात्मनः शरीरादेः काष्ठादिना तुल्यताप्रतिभासे मुक्तियोग्यता भवतीति दर्शयन्नाह -

यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः॥ ६७॥

यस्यात्मनः सस्पन्दं परिस्पन्दसमन्वितं शरीरादिरूपं जगत् आभाति प्रतिभासते।

अज्ञानी, शरीर का जैसा वर्ण होता है, वैसे वर्ण का अपने को (आत्मा को) भी मानकर, राग –द्वेष करता है।

ज्ञानी को आत्मस्वरूप का भान है; इसलिए उसको शरीर के किसी भी वर्ण से राग–द्वेष नहीं होता, अर्थात् वह अपना या पर का सुन्दर वर्णवाला शरीर देखकर प्रसन्न नहीं होता अथवा अरुचिकर वर्णवाले शरीर को देखकर अप्रसन्न नहीं होता। वह जानता है कि रूप, रस, गन्धादि पुद्गल के धर्म हैं; आत्मा के धर्म नहीं; आत्मा तो निरञ्जन, निराकर, अरूपी, अतीन्द्रिय और स्वसंवेदनगम्य है।

इस प्रकार शरीरादि से भिन्न आत्मा की भावना करनेवाले अन्तरात्मा को शरीरादि, काष्टादि समान प्रतिभासित होने पर, मुक्ति की योग्यता होती है — ऐसा बताकर कहते हैं :—

स्पंदित जग दिखता जिसे, अक्रिय जड़ अनभोग।
वही प्रशम–रस प्राप्त हो, उसे शान्ति का योग॥ ६७॥

अन्वयार्थ :–**(यस्य)** जिस ज्ञानी पुरुष को **(सस्पन्दं जगत्)** अनेक क्रियाएँ–चेष्टाएँ करता हुआ (शरीरादिरूप) जगत, **(निःस्पन्देन समं)** निश्चेष्ट काष्ठ–पाषाणदि के समान **(अप्रज्ञं)** चेतनारहित जड़ और **(अक्रियाभोगं)** क्रिया तथा सुखादि अनुभवरूप भोग से रहित **(आभाति)** मालूम होने लगता है, **(सः)** वह पुरुष **(अक्रियाभोगं शमं याति)** जिसमें मन–वचन–काय की क्रिया से और इन्द्रिय विषय भोग से रहित है, **(इतरः न)** उससे विलक्षण दूसरा बहिरात्मा जीव, उस शान्ति–सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है। परमवीतरागतामय उस शान्ति–सुख का अनुभव करता है।

टीका :– जिस आत्मा को (ज्ञानी आत्मा को) सस्पंद, अर्थात् परिस्पंदनयुक्त (अनेक क्रियाएँ करता) शरीरादिरूप जगत् लगता है–प्रतिभासित होता है। कैसा (जगत्) ? निःस्पंद

कथम्भूतं ? निःस्पन्देन समं निःस्पन्देन काष्ठपाषाणादिना समं तुल्यं। कुतः येन तत्समं ? अप्रज्ञं जडम-चेतनं यतः। तथा अक्रियाभोगं क्रिया पदार्थपरिस्थितिः भोगः सुखाद्यनुभवः तौ न विद्येते यत्र यस्यैवं तत्प्रतिभासते स किं करोति ? स शमं याति शमं परमवीतरागतां संसारभोगदेहोपरि वा वैराग्यं गच्छति। कथम्भूत शमं ? अक्रियाभोगमित्येतदत्रापि संबंधनीयम्। क्रिया वाक्कायमनोव्यापारः। भोग इन्द्रिय-प्रणालिकया विषयानुभवनं विषयोत्सवः। तौ न विद्येते यत्र तमित्थम्भूतं शमं स याति। नेतरः तद्विलक्षणो बहिरात्मा॥६७॥

(निश्चेष्ट) समान, अर्थात् काष्ट-पाषाणादि समान, अर्थात् तुच्छ। निःस्पंद (निष्चेष्ट)। किससे इस समान (भासता है) ? कारण कि वह चेतनारहित जड़-अचेतन है तथा अक्रिया भोग, अर्थात् क्रिया / पदार्थों की परिणति और भोग / सुखादि अनुभव — इन दोनों का जिसमें अभाव है, ऐसा वह (जगत्) जिसको प्रतिभासता है। वह क्या करता है ? वह शान्ति पाता है। अर्थात्, शम / परम वीतरागता अथवा संसार, भोग और देह के प्रति वैराग्य-उसको पाता है। कैसी शान्ति ? यहाँ भी उसके (शम के) साथ अक्रियाभोग का सम्बन्ध लेना। क्रिया, अर्थात् मन-वचन-काय का व्यापार और भोग, अर्थात् इन्द्रियों की प्रणालिका से (इन्द्रियों द्वारा) विषयों का अनुभवन, अर्थात् विषयोंत्सव-ये दोनों जिसमें विद्यमान न हों — ऐसी शान्ति को वह पाता है; अन्य कोई नहीं, अर्थात् उससे विपरीत लक्षणवाला बहिरात्मा (वैसी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता) ॥६७॥

भावार्थ :- *जिसको शरीरादिरूप जगत्, काष्ट-पाषाणादि तुल्य अचेतन-जड़ और निष्चेष्ट भासित होता है, अर्थात् परिणमनरूप क्रिया से और सुखादि अनुभवरूप भोग से रहित प्रतिभासता है, वह ऐसी परम वीतरागतारूप शान्ति को पाता है, कि जिसमें मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का तथा इन्द्रिय के विषय-भोग का अभाव होता है। अज्ञानी-बहिरात्मा, ऐसी शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।*

जिस समय अन्तरात्मा, आत्मस्वरूप की भावना करते-करते स्वरूप में स्थिर हो जाता है, उस समय उसको यह जड़ क्रियात्मक-प्रवृत्तिमय जगत् की ओर का लक्ष्य छूट जाता है और वह परम वीतरागता को प्राप्त होकर, निर्विकल्प निराकुल आनन्द का अनुभव करता है।

सोप्येवं शरीरादिभिन्नमात्मानं किमिति न प्रतिपद्यत इत्याह -

शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे॥ ६८॥

शरीरमेव कंचुकं तेन संवृतः सम्यक् प्रच्छादितो ज्ञानमेव विग्रहः स्वरूपं यस्य। शरीरसामान्योपादानेऽप्यत्र कार्मणशरीरमेव गृह्यते। तस्यैव मुख्यवृत्त्या तदावरकत्वोपपत्तेः। इत्थंभूतो बहिरात्मा नात्मानं बुध्यते तस्मादात्मस्वरूपानवबोधात् अतिचिरं बहुतरकालं भवे संसारे भ्रमति॥६८॥

वह (बहिरात्मा) भी इसी प्रकार शरीरादि से भिन्न आत्मा को क्यों प्राप्त नहीं करता (नहीं जानता) ?-वह कहते हैं :—

देहरूपी वस्त्र से, आवृत ज्ञान-शरीर।
यह रहस्य जाने बिना, भोगे चिर भव-पीर॥ ६८॥

अन्वयार्थ :-**(शरीरकंचुकेन)** शरीररूपी काँचली से **(संवृत्तज्ञानविग्रहः आत्मा)** ढका हुआ है ज्ञानरूपी शरीर जिसका, ऐसा बहिरात्मा **(आत्मानं)** आत्मा के यथार्थ स्वरूप को **(न बुध्यते)** नहीं जानता है, **(तस्मात्)** इसीलिए **(अतिचिरं)** बहुत लम्बे काल तक **(भवे)** संसार में **(भ्रमति)** भ्रमण करता है।

टीका :- शरीर, वही कंचुक (कांचली)-उससे ढ़ँका हुआ, अर्थात् अच्छी तरह आच्छादित हुआ ज्ञानरूपी शरीर, अर्थात् स्वरूप जिसका,-(यहाँ शरीर सामान्य का ग्रहण करने पर भी कार्माणशरीर का हो ग्रहण समझना, क्योंकि उसकी ही मुख्य वृत्ति से उसके आवश्यकपने की उपपत्ति है, अर्थात् वह आवरणरूप है।) — ऐसा बहिरात्मा, आत्मा को नहीं जानता; इसलिए आत्मस्वरूप नहीं जानने के कारण, वह अति चिरकाल-बहुत-बहुत काल तक भव में, अर्थात् संसार में भ्रमता है॥६८॥

भावार्थ :- *वास्तव में आत्मा, ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान ही उसका शरीर है परन्तु अनादि काल से संसारी, आत्मा को कार्माणशरीर के साथ एकपने के अध्यास से उसका स्वरूप विकृत हो गया है; वैसे बहिरात्मा को आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है; इसलिए वह चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है।*

यद्यात्मनः स्वरूपमात्मत्वेन बहिरात्मानो न बुद्ध्यन्ते तदा किमात्मत्वेन ते बुद्ध्यन्ते इत्याह –

यहाँ काँचली का दृष्टान्त स्थूलता की अपेक्षा से है, क्योंकि जिस प्रकार काँचली, सर्प के ऊपर के भाग में रहती है; उस प्रकार कार्माणशरीर का सम्बन्ध आत्मा के साथ नहीं है, परन्तु जैसे, पानी में नमक मिल जाता है; इसी तरह दोनों का एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है।[1]

विशेष स्पष्टीकरण –

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है परन्तु वह प्रवाहरूप से है। जब अज्ञानवश जीव, कर्म के उदय में जुड़ता है, उसी समय उदय में आये हुए कर्म खिरते हैं और नये कर्म स्वयं बँधते हैं; इस प्रकार कर्म-सन्तति प्रवाहरूप से चालू रहती है। यदि जीव, कर्म के उदय में नहीं जुड़े, तो नये कर्म नहीं बँधते और पुराने कर्म खिर जाते हैं।

जहाँ तक जीव अपनी विपरीतमान्यता का अभाव नहीं करता, वहाँ तक दर्शनमोहनीयकर्म का प्रवाह चालू रहता है और जीव उसके उदय में जुड़ता रहता है, इससे संसार में परिभ्रमण किया ही करता है।

'द्रव्यप्रत्ययों का उदय होने पर, शुद्धात्मस्वरूप की भावना का त्याग करके (जीव) जब रागदिभावरूप से परिणमता है, तब बन्ध होता है; उदयमात्र से ही नहीं। यदि उदयमात्र से ही बन्ध हो तो वे सर्वदा संसार में ही रहे। किस प्रकार ? संसारियों को सर्वदा ही कर्मोदय का विद्यमानपना होता है; इसलिए। तो क्या कर्मोदय बन्ध का कारण नहीं होता ? निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट होनेवालों को मोहसहित कर्मोदय, व्यवहार से निमित्त होता है परन्तु निश्चय से तो अपना रागादि अज्ञानभाव ही अशुद्धउपादानकारण है।'[2]

यदि बहिरात्मा, आत्मस्वरूप को आत्मपने नहीं जानते हों तो वे किसे आत्मपने जानते हैं ? – वह कहते हैं :—

---

१. सर्प को काँचली उसके शरीर से भिन्न होने योग्य न हो, वहाँ तक वह सर्प के शरीर के साथ संलग्न/चिपटी हुई रहती है; इसी तरह जहाँ तक अज्ञानी जीव, कार्माणशरीर के साथ एकत्व करता है, वहाँ तक कर्मों के साथ बन्ध चालू रहता है; जैसे, सर्प की काँचली उसके शरीर के साथ चालू रहती है; उसी तरह।

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः॥ ६९॥

तं देहात्मानं प्रपद्यन्ते। के ते? अबुद्धयो बहिरात्मानः। कया कृत्वा? स्थितिभ्रान्त्या। क्व? देहे। कथम्भूते देहे? व्यूहे समूहे। केषां? अणूनां परमाणूनां। किं विशिष्टानां? प्रविशद्गलतां अनुप्रविशतां निर्गच्छतां च। पुनरपि कथम्भूते? समाकृतौ समानाकारे सदृशा परापरोत्पादेन। आत्मना सहैकक्षेत्रे समानावगाहेन वा। इत्थम्भूते देहे वा स्थितिभ्रान्तिः स्थित्या कालान्तरावस्थायित्वेन एकक्षेत्रावस्थानेन वा भ्रान्तिर्देहात्मनोरभेदाध्यवसायस्तया॥६९॥

अणु के योग-वियोग में, देह समानाकार।
एक क्षेत्र लख आतमा, माने देहाकार॥ ६९॥

अन्वयार्थ :- **(अबुद्धयः)** अज्ञानी बहिरात्मा जीव, **(प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे)** जो प्रवेश करते और बाहर निकलते हैं — ऐसे परमाणुओं के समूहरूप शरीर में **(समाकृतौ)** आत्मा, शरीर की आकृति के समानरूप में **(स्थितिभ्रांत्या)** (आत्मा) स्थित होने से, अर्थात् शरीर और आत्मा एक क्षेत्र में स्थित होने से — दोनों को एक रूप समझने की भ्रान्ति से, **(तम्)** उस शरीर को ही **(आत्मानं)** आत्मा **(प्रपद्यते)** समझ लेते हैं।

टीका :- वे देह को आत्मा समझते हैं। वे कौन? बुद्धिरहित बहिरात्मा। किससे (किसलिए ऐसा समझते है)? स्थिति की भ्रान्ति से। किसमे? देह में। कैसे देह में? व्यूहरूप, अर्थात् समूहरूप (देह में)। किसके (समूहरूप)? अणुओं के-परमाणुओं के (समूहरूप)। कैसे प्रकार के (परमाणुओं के)? प्रवेशते-गलते, अर्थात् प्रवेश करते और निकलते (परमाणुओं के); फिर कैसे (देह में)? समाकृत-एक-दूसरे के सदृश उत्पाद से समान आकारवाले (देह में), अर्थात् आत्मा के साथ समान अवगाह से एक क्षेत्रवाले (देह में)। ऐसे देह में जो स्थिति भ्रान्ति-स्थिति से, अर्थात् कालान्तर-अवस्थायीपने के कारण या एक क्षेत्र में रहने के कारण से-जो भ्रान्ति, अर्थात् देह और आत्मा के अभेदरूप अध्यवसाय, उसके कारण से, (देह को)आत्मा मानते हैं॥६९॥

ततो यथावदात्मस्वरूपप्रतिपत्तिमिच्छन्नात्मानं देहाद्भिन्नं भावयेदित्याह -

भावार्थ :- *निरन्तर प्रवेश करते और बाहर निकलते पुद्गलपरमाणुओं के समूहरूप देह में, समान आकृति से-एक क्षेत्र में आत्मा स्थित होने से, देह और आत्मा के एकपने की भ्रान्ति के कारण बहिरात्मा, शरीर को ही आत्मा मानता है।*

यह शरीर, पुद्गलपरमाणुओं से निर्मित है। ये परमाणु, वह के वही कायम नहीं रहते; प्रति समय अगणित परमाणु शरीर से बाहर निकलते हैं और नये-नये परमाणु शरीर में प्रविष्ट होते हैं। परमाणुओं के निकल जाने से तथा नये प्रवेश होने से, स्थूलदृष्टि से शरीर की बाह्य आकृति में कोई अन्तर नहीं लगता; तथा आत्मा और शरीर का एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है; इसलिए दोनों की आकृति समान होने से, अज्ञानी जीव को भ्रम होता है कि 'यह शरीर मैं हूँ', उसको अन्दर स्थित आत्मतत्त्व का ज्ञान ही नहीं है।

शरीर और आत्मा को दूध-पानी की तरह एक क्षेत्रावगाह स्थिति है। शरीर, इन्द्रियगम्य है और आत्मा, अतीन्द्रियगम्य है। अज्ञानी को इन्द्रियज्ञान होने से, वह शरीर को ही देखता है; आत्मा को नहीं देखता; इसलिए वह शरीर को ही आत्मा मानकर, एकताबुद्धि करता है और शरीर सम्बन्धी राग-द्वेष करता है।

विशेष स्पष्टीकरण *-*

''जहाँ तक इस आत्मा को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, (रागादि) भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और 'मुझमें (आत्मा में) ये कर्म-नोकर्म हैं' — ऐसी बुद्धि है, वहाँ तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है।[१] ''

श्लोक में यह नहीं कहा है कि कर्म के कारण जीव, भ्रम में पड़ता है परन्तु वह अपने ही अपराध से वैसे भ्रम में पड़ता है।

इसलिए यथार्थरूप से आत्मस्वरूप को समझने की इच्छा करनेवाले को आत्मा को देह

---

१. **कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं। जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥**

अर्थात्, जब तक इस आत्मा की ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' और मुझमें (आत्मा में) 'यह कर्म-नोकर्म हैं' — ऐसी बुद्धि है, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है। *(श्री समयसार, गाथा-१९)*

***गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन्।**
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम्॥ ७०॥

गौरोऽहं स्थूलोऽहं कृशोवाऽहमित्यनेन प्रकारेणाङ्गेन विशेषणेन अविशेषयन् विशिष्टं अकुर्वन्नात्मानं धारयेत् चित्तेऽविचलं भावयेत् नित्यं सर्वदा। कथम्भूतं? केवलज्ञप्तिविग्रहं केवलज्ञानस्वरूपं अथवा केवला रूपादिरहिता ज्ञप्तिरेवोपयोग एव विग्रहः स्वरूपं यस्य॥७०॥

से भिन्न भाना चाहिए — ऐसा कहते हैं :—

'मैं गोरा स्थूल नहीं' - ये सब तन के रूप।
आत्मा निश्चय नित्य है, केवल ज्ञानस्वरूप॥ ७०॥

अन्वयार्थ **:-** **(अहं)** मैं **(गौरः)** गोरा हूँ **(स्थूलः)** मोटा हूँ **(वा कृशः)** अथवा दुबला हूँ **(इति)** इस प्रकार **(अंगेन)** शरीर के साथ **(आत्मानं)** अपने को **(अविशेषयन्)** एकरूप न करते हुए, **(नित्यं)** सदा ही **(आत्मानं)** अपने आत्मा को **(केवलज्ञप्तिविग्रहम्)** केवलज्ञानस्वरूप अथवा रूपादिरहित उपयोगशरीरी **(धारयेत्)** अपने चित्त में धारण करना–मानना।

टीका **:-** मैं गोरा हूँ, मैं स्थूल (मोटा) हूँ, अथवा मैं कृश (पतला) हूँ; इस प्रकार से शरीर द्वारा आत्मा को, विशेषरूप, अर्थात् विशिष्टरूप नहीं मानकर, (उसे) धारना, अर्थात् चित्त में उसको नित्य–सर्वदा अविचलरूप भाना। कैसे (आत्मा को) ? केवल ज्ञानविग्रहरूप, अर्थात् केवल ज्ञानस्वरूप, अर्थात् केवल रूपादि रहित ज्ञाप्ति ही–उपयोग ही जिसका विग्रह, अर्थात् स्वरूप है, वैसे आत्मा को (चित्त में धारना) ॥७०॥

भावार्थ **:-** *गोरापना, स्थूलपना, कृशपना इत्यादि अवस्थाएँ शरीर की है–पुद्‌गल की है; आत्मा की नहीं। इन शरीर की अवस्थाओं के साथ आत्मा को एकरूप नहीं मानना। आत्मा को शरीर से भिन्न, रूपादिरहित और केवल ज्ञानस्वरूप ही समझना और उस स्वरूप से ही*

---

* **हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु। हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु॥**
अर्थात्, मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ, मैं ही और भी अनेक वर्णवाला हूँ; मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ — ऐसी मान्यतावाले को मूढ मानो। *(श्री परमात्मप्रकाश, योगीन्द्रदेव, ८०)*

यश्चैवं विधमात्मानमेकाग्रमनसा भावयेत्तस्यैव मुक्तिर्नान्यस्येत्याह -

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः॥ ७१॥

एकान्तिकी अवश्यम्भाविनी तस्यान्तरात्मानो मुक्तिः। यस्य चित्ते अविचला धृतिः आत्मस्वरूपधारणं स्वरूपविषया प्रसत्तिर्वा यस्य तु चित्ते नास्त्यचला धृतिस्तस्य नैकान्तिकीमुक्तिः॥७१॥

उसका निरन्तर चित्त में ध्यान करना।

जो इस प्रकार के आत्मा की एकाग्र मन से भावना करता है, उसको ही मुक्ति होती है; अन्य किसी को नहीं–यह कहते हैं:—

चित में निश्चल धारणा, उसे मुक्ति का योग।
जिसे न निश्चल धारणा, शाश्वत मुक्ति-वियोग॥ ७१॥

अन्वयार्थ :–**(यस्य)** जिस पुरुष के **(चित्ते)** चित्त में **(अचला)** आत्मस्वरूप की निश्चल **(धृतिः)** धारणा है, **(तस्य)** उसकी **(एकान्तिकी मुक्तिः)** एकान्त से, अर्थात् नियम से मुक्ति होती है। **(यस्य)** जिस पुरुष की **(अचलाधृतिः नास्ति)** आत्मस्वरूप में निश्चल धारणा नहीं है, **(तस्य)** उसकी **(एकान्तिकी मुक्तिः न)** अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है।

टीका :– एकान्तिकी, अर्थात् अवश्य होनेवाली मुक्ति, उस अन्तरात्मा को होती है कि जिसके चित्त में अविचल (निश्चल) धृति, अर्थात् आत्मस्वरूप की धारणा होती है और स्वरूप में प्रसति (लीनता) होती है परन्तु जिसके चित्त में अचल धृति (धारणा) नहीं होती, उसको अवश्यम्भावी मुक्ति नहीं होती॥७१॥

भावार्थ :– *जिसका उपयोग अन्यत्र न भ्रमकर, आत्मस्वरूप में ही स्थिर होता है, उसकी मुक्ति नियम से होती है परन्तु जिसका उपयोग एक से दूसरे (स्थान पर) भ्रमता है और आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं होता, उसकी मुक्ति कभी नहीं होती।*

जहाँ मोहभावसहित उपयोग, परपदार्थों में अटकता है, वहाँ सविकल्पदशा वर्तती है; उस सविकल्पदशा में उपयोग, आत्मा में स्थिर नहीं हो सकता। निर्विकल्पदशा में ही

चित्तेऽचला धृतिश्च लोकसंसर्गं परित्यज्यात्मस्वरूपस्य संवेदनानुभवे सति स्यान्नान्यथेति दर्शयन्नाह -

जनेभ्यो वाक्, ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥ ७२॥

जनेभ्योवाक् वचनप्रवृत्तिर्भवति। प्रवृत्तेः स्पन्दो मनसः व्यग्रतामानसे भवति। तस्यात्मनः स्पन्दाच्चित्तविभ्रमाः नाना विकल्पप्रवृत्तयो भवन्ति। यत एवं ततस्तस्मात् योगी त्यजेत् कं? संसर्ग सम्बन्धम् कैः सह? जनैः॥७२॥

उपयोग, आत्मस्वरूप में स्थिर हो सकता है। जिसका उपयोग, आत्मस्वरूप में स्थिर होता है, उसको ही मुक्ति होती है; अन्य को नहीं।

चित्त में अचल धृति, लोक के संसर्ग का परित्याग करके, आत्मस्वरूप के संवेदन का अनुभव होने पर होती है; अन्य प्रकार नहीं-यह दर्शाते हुए कहते हैं :—

लोक-संग से वच-प्रवृति, वच से चञ्चल चित्त।
फिर विकल्प, फिर क्षुब्ध मन, मुनिजन होंय निवृत्त॥ ७२॥

अन्वयार्थ :- **(जनेभ्यो)** लोगों के संसर्ग से **(वाक्)** वचन की प्रवृत्ति होती है; **(ततः)** उससे, अर्थात् वचनप्रवृत्ति से **(मनसःस्पन्द)** मन की व्यग्रता होती है —उससे चित्त चलायमान होता है **(तस्मात्)** चित्त की चंचलता से **(चित्तविभ्रमाः भवन्ति)** चित्त में नाना प्रकार के विकल्प उठने लगते हैं-मन क्षुभित हो जाता है **(ततः)** इसलिए **(योगी)** योग में संलग्न होनेवाले अन्तरात्मा को **(जनैः संसर्ग त्यजेत्)** लौकिकजनों के संसर्ग का परित्याग करना चाहिए।

टीका :- लोगों के साथ बोलने से वचन की प्रवृत्ति होती है; प्रवृत्ति से मन का स्पंदन -मन में व्यग्रता होती है; उस आत्मा के (भावमन के) स्पन्दन से चित्त विभ्रम, अर्थात् विविध प्रकार के विकल्पों की प्रवृत्ति होती है; इसलिए योगियों की तजना। क्या (तजना)? संसर्ग-सम्बन्ध। किसके साथ का? लोगों के साथ का॥७२॥

भावार्थ :- *लौकिकजनों के साथ वार्तालाप करने से मन व्यग्र होता है-चित्त चलायमान होता है और विविध प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं। उससे आत्मस्वरूप में*

तर्हि तैः संसर्गं परित्यज्याटव्यां निवासः कर्तव्य इत्याशंकां निराकुर्वन्नाह -

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः॥ ७३॥

ग्रामोऽरण्यमित्येवं द्वेधा निवासः स्थानं अनात्मदर्शिनामलब्धात्मस्वरूपोपलम्भानां, दृष्टात्मनामुपलब्धात्मस्वरूपाणां निवासस्तु विमुक्तात्मैव रागादिरहितो

स्थिरता नहीं रहती; इसलिए आत्मस्वरूप के अभ्यासी को लौकिकजनों के संसर्ग से दूर रहना योग्य है।

विशेष स्पष्टीकरण *-*

साधक को जैसे-जैसे भेदविज्ञान का बल बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसको पर पदार्थों के प्रति उपेक्षाभाव होता है और वीतरागता बढ़ती है। वीतरागता के प्रमाण में वह आत्मस्थिरता प्राप्त करता है। स्वरूप स्थिरता के काल में लौकिकजनों के साथ का संसर्ग स्वयं छूट जाता है।

तो क्या उनका (लोगों का) संसर्ग छोड़कर, जंगल में निवास करना? — ऐसी आशङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं :—

जन अनात्मदर्शी करें, ग्राम-अरण्य निवास।
आत्मदृष्टि करते सदा, निज में निज का वास॥ ७३॥

अन्वयार्थ :- **(अनात्मदर्शिनां)** जिन्हें आत्मा का अनुभव नहीं हुआ — ऐसे लोगों के लिए **(ग्रामः अरण्यम्)** यह गाँव है, यह जंगल है **(इति द्वेधा निवासः)** इस प्रकार दो तरह के निवास हैं **(तु)** किन्तु **(दृष्टात्मनां)** जिन्हें आत्मस्वरूप का अनुभव हो गया है — ऐसे ज्ञानी पुरुषों के लिए **(विविक्तः)** रागादि रहित विशुद्ध एवं **(निश्चलः)** चित्त की व्याकुलतारहित स्वरूप में स्थिर **(आत्मा एव)** आत्मा ही **(निवासः)** रहने का स्थान है।

टीका :- ग्राम और अरण्य, ये दो प्रकार के निवास स्थान, अनात्मदर्शियों के लिए, अर्थात् जिनको आत्मा का अनुभव नहीं हुआ, जिनको आत्मा की उपलब्धि नहीं

विशुद्धात्मैव निश्चलः चित्तव्याकुलतारहितः ॥७३॥

अनात्मदर्शिनो दृष्टात्मनश्च फलं दर्शयन्नाह -

हुई, वैसे लोगों के लिए हैं परन्तु जिनको आत्मा का अनुभव हुआ है, जिनको आत्मस्वरूप की उपलब्धि हुई है, वैसे (ज्ञानी) लोगों के लिए तो निवास स्थान विविक्त, अर्थात् विमुक्त आत्मा ही, अर्थात् रागादि रहित शुद्ध आत्मा ही है, जो निश्चल, अर्थात् चित्त की आकुलता से रहित है ॥७३॥

भावार्थ : *- जिसको आत्मा का अनुभव नहीं है, भेदज्ञान नहीं है, उस पुरुष को ग्राम या जंगल में बसने का विकल्प आता है।*

जो आत्मदर्शी है-जिसको आत्मा का अनुभव हुआ है, उसका निवास स्थान वास्तव में अपना शुद्धात्मा ही है। वह राग-द्वेषादि रहित और निश्चल होने से, उसकी ग्रामनिवास या वननिवास के लिए प्रेम नहीं होता। वह ग्राम अथवा वन को अपने आत्मस्वरूप से बहिर्भूत समझता है; इसीलिए किसी में भी आसक्ति रखना अथवा उसको अपना निवास स्थान मानना, उसको इष्ट नहीं है। वह तो शुद्धात्मस्वरूप को ही अपनी विहार-भूमि बनाता है और सदा उसी में रमा करता है।

सामायिक पाठ, काव्य २२ में आचार्य अमितगति कहते हैं कि —

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकषायविद्विषः, सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मतः॥

'चटाई, पत्थर, घास, जमीन, लकड़ी का पटिया इत्यादि ध्यान के लिए निःसार हैं, क्योंकि जिसने राग-द्वेष और विषय-कषायरूपी शत्रुओं को दूर किया है, वैसे पुरुष को तो उसका आत्मा ही ध्यान के लिए सच्चा अत्यन्त निर्मल आसन है-ऐसा ज्ञानीजनों ने माना है।'

आत्मस्वरूप के अनुभव के लिए ग्राम-अरण्य की तरह, अन्य परपदार्थ भी निःसार हैं; त्रिकाली शुद्धात्मा का अवलम्बन ही सारभूत है।

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी के फल को दर्शाते हुए कहते हैं :—

देहान्तरगतेबीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना॥ ७४॥

देहान्तरे भवान्तरे गतिर्गमनं तस्य बीजं कारणं किं? आत्मभावना। क्व? देहेऽस्मिन् अस्मिन् कर्मवशाद्गृहीते देहे। विदेहनिष्पत्तेः विदेहस्य सर्वथा देहत्यागस्य निष्पत्तेर्मुक्तिप्राप्तेः पुनर्बीजं स्वात्मन्येवात्मभावना॥७४॥

आत्मबुद्धि ही देह में, देहान्तर का मूल।
आत्मबुद्धि जब आत्म में, हो तन ही निर्मूल॥ ७४॥

अन्वयार्थ :–(**अस्मिन् देहे**) इस शरीर में (**आत्मभावना**) आत्मा की जो भावना है–शरीर को ही आत्मा मानना है–वही (**देहान्तरगतेः**) अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तरप्राप्ति का (**बीजं**) बीज, अर्थात् कारण है और (**आत्मनि एव**) अपनी आत्मा में ही (**आत्मभावना**) आत्मा की जो भावना है–आत्मा को ही आत्मा मानना है, वह (**विदेहनिष्पत्तेः**) शरीर के सर्वथा त्यागरूप मुक्ति का (**बीजं**) बीज / कारण है।

टीका :– अन्य देह में, अर्थात् अन्य भव में; गति, अर्थात् गमन; उसका बीज, अर्थात् कारण क्या? आत्मभावना। किसमें? इस देह में, अर्थात् कर्मवश ग्रहित इस देह में। विदेहनिष्पत्ति का — विदेह की, अर्थात् सर्वथा देहत्याग की निष्पत्ति का, अर्थात् मुक्ति प्राप्ति का बीज अपने आत्मा में ही आत्मभावना (करना वह) है॥७४॥

भावार्थ :– *शरीर में आत्मबुद्धि करने से, अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानने से, अन्य भव में भी शरीर की ही प्राप्ति होती है और अपने आत्मा में ही–निजस्वरूप में आत्मबुद्धि करने से, अर्थात् आत्मा को ही आत्मा मानने से, मुक्ति होती है–देह का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है।*

इसलिए पुनः शरीर की प्राप्ति न हो–पुनर्भव न करना पड़े, इसके लिए ज्ञानी को शरीर में आत्मबुद्धि का त्याग करके, अपने आत्मा में ही आत्मभावना करना–यही योग्य है।

***विशेष स्पष्टीकरण** –*

आचार्य कुन्दकुन्ददेव श्री प्रवचनसार में कहते हैं कि —

तर्हि मुक्तिप्राप्तिहेतुः कश्चिद्गुरुर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह -

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्माऽऽत्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥ ७५ ॥

जन्म संसारं नयति प्रापयति। कं? आत्मानं। कोऽसौ? आत्मैव देहादौ

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु ॥१५०॥

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥१५१॥

अर्थात्, *जब तक देहप्रधान विषयों में ममत्व नहीं छोड़ता, तब तक कर्म से मलिन आत्मा बारम्बार अन्य-अन्य प्राण धारण करता है।*

जो इन्द्रियों का विजयी होकर उपयोगमात्र आत्मा को ध्याता है, वह कर्मों से रंजित नहीं होता; उसको प्राण कैसे अनुसरेंगे? (अर्थात्, उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता)।

इष्टोपदेश, श्लोक-४६ में कहा है कि —

'जो अज्ञानी जीव, शरीरादिक पुद्गलद्रव्य को अभिनन्दता है; अर्थात्, उनको अपना मानता है-उनमें आत्मीयभाव करता है, उस जीव के साथ का संयोगसम्बन्ध चारों गतियों में, वह पुद्गलद्रव्य नहीं छोड़ता।'

तो मुक्ति-प्राप्ति का हेतु कोई गुरु होगा — ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं :—

आत्मा ही भव-हेतु है, आत्मा ही निर्वाण।
यों निश्चय से आत्म का, आत्मा ही गुरु जान ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थ :- **(आत्मा एव)** आत्मा ही **(आत्मानं)** आत्मा को **(जन्म नयति)** देहादिक में दृढ़ात्मभावना के कारण, जन्म-मरणरूप संसार में भ्रमण कराता है **(च)** और **(निर्वाणमेव नयति)** आत्मा में ही आत्मबुद्धि के प्रकर्षवश, मोक्ष प्राप्त कराता है; **(तस्मात्)** इसलिए **(परमार्थतः)** निश्चय से **(आत्मनः गुरुः)** आत्मा का गुरु **(आत्मा एव)** आत्मा ही है, **(अन्यः न अस्ति)** दूसरा कोई गुरु नहीं है।

टीका :- जन्म, अर्थात् संसार के प्रति दौड़ता है-प्राप्त कराता है। किसको? आत्मा को।

दृढात्मभावनावशात्। निर्वाणमेव च आत्मानमात्मैव नयति स्वात्मन्येवात्मबुद्धिप्रकर्ष-सद्भावात्। यत एवं तस्मात् परमार्थतो गुरुरात्मात्मनः। नान्यो गुरुरस्ति परमार्थतः। व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु॥७५॥

कौन वह ? देहादि में दृढ़ आत्मभावनावश आत्मा ही (जन्म प्राप्त कराता है); और अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि के प्रकर्ष सद्भाव से आत्मा ही आपको निर्वाण के प्रति ले जाता है, क्योंकि वास्तव में आत्मा, आत्मा का गुरु है; परमार्थ से अन्य कोई गुरु नहीं है। व्यवहार से वह हो तो भले हो॥७५॥

भावार्थ :- *जो आत्मा, देहादि में दृढ़ आत्मबुद्धि करता है, वह जन्म-मरणरूप संसार में भ्रमण करता है; अर्थात्, आत्मा ही अपने आत्मा को स्व-अपराध से संसार में भटकाता है, और वही आत्मा, यदि अपने आत्मा में ही दृढ आत्मबुद्धि करे, तो वह संसारभ्रमण से मुक्त होता है-निर्वाण पाता है; अर्थात्, आत्मा ही अपने आत्मा को निर्वाण प्राप्त कराता है; इसलिए परमार्थ से आत्मा ही, आत्मा का गुरु है; अन्य कोई गुरु नहीं।*

विशेष स्पष्टीकरण -

यहाँ आचार्य ने स्पष्ट किया है कि जीव अपने शुद्ध या अशुद्ध उपादान से ही अपने आत्मा का हित-अहित करता है। उसमें कर्म या परपदार्थ अहेतुवत् हैं-अकिंचित्कर हैं।

जब तक जीव, अपने आत्मा की सामर्थ्य का भान करके अन्तरङ्ग रागादि शत्रुओं, अर्थात् कषायपरिणति पर विजय प्राप्त करके, स्वयं अपने आत्मा के उद्धार करने का प्रयत्न नहीं करता, तब तक वह संसाररूपी कीचड़ में फँसा रहता है और जन्म-मरण के असह्य कष्ट भोगता है परन्तु जब वह आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करके, स्वभावसन्मुख विशेष उग्र पुरुषार्थ करता है, तब क्रम-क्रम से राग-द्वेषादि कषायभावों का व विभावपरिणति का स्वयं त्याग हो जाता है और रागादि भाव से सर्वथा मुक्त होने पर, अर्थात् परम वीतरागता प्राप्त होने पर, वह मोक्ष प्राप्त करता है।

'आत्मा, अपने आत्मा में मोक्षसुख की सदा अभिलाषा करता है, अभीष्ट मोक्षसुख का ज्ञान कराता है और स्वयं कल्याणकारी आत्मसुख की प्राप्ति में अपने को जोड़ता है; इसलिए आत्मा ही आत्मा का गुरु है।[१]'

१. श्री इष्टोपदेश, श्लोक-३४

देहे स्वबुद्धिर्मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह -

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम्॥ ७६॥

देहादौ दृढात्मबृद्धिरविचलात्मदृष्टिर्बहिरात्मा। उत्पस्यनवलोकयन्। आत्मनो नाशं मरणं मित्रादिभिर्वियोगं च मम भवति इति बुद्ध्यमानो मरणाद्बिभेति भृशमत्यर्थम्॥७६॥

इसलिए आत्मा, पर का-निमित्त का अवलम्बन छोड़कर, स्वयं अपना गुरु बने, अर्थात् धर्म की सिद्धि के लिए स्वाश्रयी बने तो वह जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त होकर, निर्वाण को पाता है।

देह में आत्मबुद्धि करनेवाला (बहिरात्मा), मरण नजदीक आने पर क्या करता है? वह कहते हैं :—

आत्मबुद्धि है देह में, जिसकी प्रबल दुरन्त।
वह तन-परिजन मरण से, होता अति भयवन्त॥ ७६॥

अन्वयार्थ :-(**देहादौ दृढात्मबुद्धिः**) शरीरादिक में जिसकी आत्मबुद्धि दृढ हो रही है — ऐसा बहिरात्मा (**आत्मनः नाशम्**) शरीर के छूटनेरूप अपने मरण (**च**) और (**मित्रादिभिः वियोगं**) मित्रादि-सम्बन्धियों से होनेवाले वियोग को (**उत्पश्यन्**) देखता हुआ, (**मरणात्**) मरने से (**भृशम्**) अत्यन्त (**बिभेति**) डरता है।

टीका :- देहादि में दृढ़ आत्मबुद्धिवाला, अर्थात् अविचल आत्मदृष्टिवाला बहिरात्मा, अपना नाश, अर्थात् मरण देखकर-अवलोककर तथा 'मित्रादि से मेरा वियोग होगा' — ऐसा समझकर, मरण से अत्यन्त त्रास पाता है;-ऐसा अर्थ है।

भावार्थ :- *अज्ञानी जीव, शरीर को ही दृढ़रूप से आत्मा मानता है; इसलिए शरीर छूटने के समय, अर्थात् मरण समय अपने आत्मा का नाश और उस कारण स्त्री-पुत्र-मित्रादि से वियोग-ये दो बातें जानकर, मरण से अत्यन्त ही भयभीत होता है।*

'संसारामक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।'

यस्तु स्वात्मन्येवात्मबुद्धिः स मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह-

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम्॥ ७७॥

आत्मन्येवात्मस्वरूप एव आत्मधीः अन्तरात्मा शरीरगतिं शरीरविनाशं शरीरपरिणतिं वा बालाद्यवस्थारूपां आत्मनो अन्यां भिन्नां निर्भयं यथा भवत्येवं मन्यते। शरीरविनाशोत्पादौ आत्मनो विनाशोत्पादौ न मन्यत इत्यर्थः। वस्त्रं त्यक्त्वा वस्तान्तर-ग्रहणमिव॥७७॥

जिस पुरुष का चित्त संसार से आसक्त है, उसके लिए मृत्यु, भय का कारण है क्योंकि वह मानता है कि 'मेरे शरीर का नाश होने पर, स्त्री-पुत्रादि से वियोग होगा। अब मुझे उनके संयोग का सुख नहीं मिलेगा।' ऐसे वियोग के दुःख से, वह मरण से बहुत डरता है।

परन्तु जिसको अपने आत्मा में ही आत्मबुद्धि है, वह मरण नजदीक आने पर क्या करता है ? वह कहते हैं :—

आत्मबुद्धि हो आत्म में, निर्भय तजता देह।
वस्त्र पलटने सम गिनें, तन-गति नहीं सन्देह॥ ७७॥

अन्वयार्थ *:-* **(आत्मनिः एव आत्मधीः)** आत्मस्वरूप में ही जिसकी दृढ़ आत्मबुद्धि है — ऐसा अन्तरात्मा **(शरीरगतिं)** शरीर के विनाश को अथवा बाल-युवा आदिरूप उसकी परिणति को **(आत्मनः अन्यां)** अपने आत्मा से भिन्न **(मन्यते)** मानता है, अर्थात् शरीर के उत्पाद विनाश में अपने आत्मा का उत्पाद-विनाश नहीं मानता और इस तरह मरण के अवसर पर **(वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहम् इव)** एक वस्त्र को छोड़कर, दूसरा वस्त्र ग्रहण करने की तरह **(निर्भयं मन्यते)** अपने को निर्भय मानता है।

टीका *:-* आत्मा में ही, अर्थात् आत्मस्वरूप में ही आत्मबुद्धिवाला-अन्तरात्मा, शरीर की गति को, अर्थात् शरीर के विनाश को अथवा बालादि अवस्थारूप शरीर की परिणति को निर्भयरूप से (निःशङ्करूप से) आत्मा से अन्य-भिन्न मानता है; वह शरीर के उत्पाद-विनाश को, आत्मा का उत्पाद-विनाश नहीं मानता — ऐसा अर्थ है; जैसे, वस्त्र का त्याग करके अन्य वस्त्र का ग्रहण करना, वैसे॥७७॥

भावार्थ :- *अन्तरात्मा, आत्मा को शरीर से भिन्न समझता है; दोनों को एकरूप नहीं मानता; इसलिए वह शरीर की अवस्था को आत्मा की अवस्था नहीं मानता, अर्थात् शरीर की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति और शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं मानता। जैसे, एक वस्त्र तजकर, दूसरा वस्त्र ग्रहण करने से शरीर का कुछ नहीं होता; इसी प्रकार एक देह तजकर, दूसरी देह धारण करने पर आत्मा को कुछ नहीं होता–ऐसा समझकर वह मरण के समय में निर्भय रहता है; मरण से नहीं डरता।*

विशेष स्पष्टीकरण –

ज्ञानी समझता है कि जैसे मकान का नाश होने पर, उसमें रहे हुए आकाशद्रव्य का नाश नहीं होता; इसी प्रकार शरीर का नाश होने पर, उसमें रहे हुए आत्मा का कभी नहीं होता। ऐसी समझ के कारण, उसको किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं रहती। वह मरण–प्रसङ्ग में निर्भयता का सेवन करता है और आत्मस्वरूप में मग्न रहता है।

ज्ञानी, मृत्यु के समय अधिक दृढता के लिए आत्मा को लक्ष्य करके कहता है कि:—

'हे आत्मन्! तुम तो ज्ञानरूपी दिव्यशरीर के धारक हो; इसलिए सैकड़ों कीड़ों के समूह से भरे इस जीर्ण–शीर्ण शरीररूपी पिंजर के नाश के समय, तुमको भय करना उचित नहीं है।'

'हे आत्मन्! इस मृत्युरूप महोत्सव के प्राप्त होने से तू कैसे डरता है? क्योंकि इस मृत्यु द्वारा तो तू ज्ञानादि स्वरूप में स्थिर रहकर, अन्य शरीररूप नये नगर की ओर गमन करता है।'

'गर्भ से आज तक, तू देह पिंजर में अनेक प्रकार के दुःख भोगता पड़ा रहा है, मृत्युरूपी बलवान राजा के अलावा अन्य कौन तुझे इस देह पिंजर में से मुक्त कर सकने योग्य है।'

'जिस पुरुष ने, मृत्युरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होने पर भी, अपने आत्मा का हित नहीं साधा, वह फिर से संसाररूपी कादव (कीचड़) में फँसकर, अपना क्या कल्याण करेगा?[१]'

— ऐसे विचार से ज्ञानी, मरण से भय नहीं पाता परन्तु वह मरण को मित्रसमान समझता

१. मृत्यु महोत्सव, श्लोक–९, १०, १२, १४

एवं च स एव बुध्यते यो व्यवहारेऽनादरपरः यस्तु तत्रादरः स न बुध्यत इत्याह -

***व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।**
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ ७८॥

व्यवहारे विकल्पाभिधानलक्षणे प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिस्वरूपे वा सुषुप्तोऽप्रयत्नपरो यः स जागर्त्यात्मगोचरे आत्मविषये संवेदनोद्यतो भवति। यस्तु व्यवहारेऽस्मिन्नुक्तप्रकारे जागर्ति स सुषुप्तः आत्मगोचरे॥७८॥

है, उसको एक महोत्सव के रूप में देखता है; और इसलिए वह निराकुलतापूर्वक आत्मस्वभाव में स्थिर होकर, समाधिमरण साधता है।

ऐसा ज्ञान उसको ही होता है कि जो व्यवहार में अनादर रखता है, परन्तु जिसको वहाँ (व्यवहार में) आदर है, उसको वैसा ज्ञान नहीं होता — यह कहते हैं :—

जो सोता व्यवहार में, वह जागे निजकार्य।
जो जागे व्यवहार में, रुचे न आतम-कार्य॥ ७८॥

अन्वयार्थ :- **(यः)** जो कोई **(व्यवहारे)** व्यवहार में **(सुषुप्तः)** सोता है, **(सः)** वह **(आत्मगोचरे)** आत्मा के विषय में **(जागर्ति)** जागता है-आत्मानुभव में तत्पर रहता है **(च)** और जो **(अस्मिन् व्यवहारे)** इस व्यवहार में **(जागर्ति)** जागता है, वह **(आत्मगोचरे)** आत्मा के विषय में **(सुषुप्तः)** सोता है।

टीका :- व्यवहार में, अर्थात् विकल्प नाम जिसका लक्षण है, उसमें (विकल्प के स्थानरूप) अर्थात्, प्रवृत्ति-निवृत्ति-आदिस्वरूप (व्यवहार में) जो सोता है — प्रयत्न परायण नहीं है, वह आत्मदर्शन में, अर्थात् आत्मविषय में जागता है, अर्थात् संवेदन में (आत्मानुभव में) तत्पर होता है परन्तु जो इस उक्त प्रकार के व्यवहार में जागता है, वह आत्मविषय में सोता है, (अर्थात्, आत्मदर्शन नहीं पाता)।

भावार्थ :- *ज्ञानी, प्रवृत्ति-निवृत्तिस्वरूप सांसारिक कार्यों में अनासक्त तथा अप्रयत्नशील*

---

* **जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि। जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥**
अर्थात्, जो योगी ध्यानी मुनि व्यवहार में सोता है, वह अपने स्वरूप के काल में जागता है और जो व्यवहार में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है। *(श्री मोक्षप्राभृत, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, ३१)*

होता है और आत्मानुभव के कार्य में सजग रहता है–तत्पर रहता है; जबकि अज्ञानी, प्रवृत्ति –निवृत्तिरूप संसार के कार्यों में प्रयत्नशील रहता है–जागृत रहता है और आत्मानुभव के कार्य में अतत्पर रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण –

यहाँ आचार्य ने यह बताया है कि प्रवृत्ति–निवृत्तिरूप व्यवहार में, अर्थात् अहिंसा, भक्ति, व्रत, नियमादि शुभप्रवृत्तिरूप व्यवहार में और हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभकार्य से निवृत्तिरूप व्यवहार में — इस प्रकार दोनों व्यवहारों में जो अतत्पर होता है, वही आत्मानुभव कर सकता है परन्तु भक्ति आदि शुभकार्यों की प्रवृत्ति से और अशुभकार्यों की निवृत्ति से आत्मानुभव की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वह प्रवृत्ति विकल्पारूढ़ है–रागयुक्त है। राग, भले ही शुभ हो तो भी उससे आत्मज्ञान नहीं होता।

ज्ञानी तो आत्मस्वरूप में स्थिरतारूप प्रवृत्ति करता है; इसलिए उसको व्यवहारधर्म से स्वयं निवृत्ति हो जाती है। उसकी वह प्रवृत्ति, विकल्पारूढ़ नहीं है, अपितु निर्विकल्प है और उससे धर्म होता है।

ज्ञानी को अस्थिरता के कारण कदाचित् पूजा–भक्ति आदि का शुभराग आता है परन्तु वह उसको भला नहीं मानता, उसका उसे स्वामित्व अथवा कर्ताबुद्धि नहीं है; वह राग उसको हेयबुद्धि से वर्तता है; इसलिए उसकी प्रवृत्ति उसमें दिखने पर भी, वह वास्तव में निवृत्तिमय ही है।

अज्ञानी, शुभरागमय प्रवृत्ति में धर्म मानकर, उससे सन्तुष्ट होता है और आत्मस्वरूप की भावना के लिए अतत्पर होता है।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' (पुष्ठ २२२ में) कहा है कि:—

'तथा कितने ही जीव, भक्ति की मुक्ति का कारण जानकर, वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। वह तो अन्यमती जैसे भक्ति से मुक्ति मानते हैं, वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ परन्तु भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है; इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है। जब राग का उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो; इसलिए अशुभराग छोड़ने के लिए ज्ञानी,

यश्चात्मगोचरे जागर्ति स मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह -

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत्॥ ७९॥

आत्मानमन्तरेऽभ्यन्तरे दृष्ट्वा देहादिकं बहिर्दृष्ट्वा तयोरात्मदेहयोरन्तरविज्ञानात् भेदविज्ञानात् अच्युतो मुक्तो भवेत्। ततोऽच्युतो भवन्नप्यभ्यासाद्‌भेदज्ञानभावनातो भवति न पुनर्भेदविज्ञानमात्रात्॥७९॥

भक्ति में प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्ग का बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं परन्तु वहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते; शुद्धोपयोग के उद्यमी रहते है।'

पञ्चास्तिकाय (गाथा-१३६ की टीका) में कहा है कि :—

'वह भक्ति, केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके, ऐसे अज्ञानी जीव के होती है तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के अर्थ या कुस्थान के राग का निषेध करने के अर्थ, कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।'

आशय यह है कि जब ज्ञानी, स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता, तब उसको ऐसी भक्ति हेयबुद्धि से होती है।

जो आत्मस्वरूप में जागता है, वह मुक्ति पाता है, यह कहते हैं :—

अन्तर देखे आतमा, बाहर देखे देह।
भेदज्ञान अभ्यास जब, दृढ़ हो बने विदेह॥ ७९॥

अन्वयार्थ :- **(अन्तरे)** अन्तरङ्ग में **(आत्मानम्)** आत्मा के वास्तविक स्वरूप को **(दृष्टवा)** देखकर और **(बहिः)** बाह्य में **(देहादिकं)** शरीरादिक परभावों को **(दृष्टवा)** देखकर, **(तयोः)** आत्मा और शरीरादिक दोनों के **(अन्तरविज्ञानात्)** भेदविज्ञान से तथा **(अभ्यासात्)** अभ्यास द्वारा उस भेदविज्ञान में दृढ़ता प्राप्त करने से **(अच्युतो भवेत्)** (यह जीव) अच्युत, अर्थात् मुक्त हो जाता है।

टीका :- आत्मा को अन्तर में-अन्तरङ्ग में देखकर और देहादिक को बाह्य देखकर, इन दोनों के, अर्थात् आत्मा और देह के अन्तर विज्ञान से, अर्थात् भेदविज्ञान से (जीव) अच्युत,

यस्य च देहात्मनोर्भेददर्शनं तस्य प्रारब्धयोगावस्थायां निष्पन्नयोगावस्थायां च कीदृशं

अर्थात् मुक्त होता है; इसलिए अकेले भेदज्ञान से ही अच्युत होता है-ऐसा नहीं; परन्तु उसके (भेदज्ञान के) अभ्यास से — भेदज्ञान की भावना से अच्युत होता है ॥७९ ॥

भावार्थ :- *आत्मा और देह के भेदविज्ञान से और उसके निरन्तर अभ्यास से, अर्थात् भेदज्ञान की निरन्तर भावना से, इन दोनों से ही संसार से मुक्त हुआ जाता है क्योंकि अभ्यास से भेदज्ञान में दृढ़ता आती है और दृढ़ता से आत्मस्वरूप में स्थिरता पाकर, मुक्त हुआ जाता है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

जब जीव, अन्दर में आत्मा को और बाह्य शरीरादि परपदार्थों को उनके लक्षणों द्वारा एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न समझता है-दोनों का भेदविज्ञान करता है, तब उसकी परिणति में परिवर्तन आता है। वह बाह्य विषयों से हटकर, अन्तर्मुख होता है और अपने उपयोग को इन्द्रियों के विषयों में नहीं भ्रमाकर, उसे स्वसन्मुख झुकाकर आत्मसाधना का अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते, उसको आत्मस्वरूप में इतनी दृढ़ता-स्थिरता प्राप्त होती है कि वह फिर से आत्मस्वरूप से च्युत नहीं होता, और आत्मिक गुणों का पूर्ण विकास होने पर, मोक्षपद प्राप्त करता है।

भेदविज्ञान, मुक्ति का प्रथम सोपान है; उसके बिना कभी मुक्ति प्राप्त नहीं होती; इसलिए भेदविज्ञान करके उसका अभ्यास वहाँ तक जारी रखना कि जहाँ तक ज्ञान का उपयोग परपदार्थों से हटकर, आत्मस्वरूप में स्थिर हो।[1]

'जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं; जो कोई बँधे हैं, वे उसके ही (भेदविज्ञान के ही) अभाव से बँधे हैं।'[2]

'भेदविज्ञान ज्योति को केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली कही है।'[3]

अविचल आत्मानुभूति का मूलकारण, भेदविज्ञान है।

जिसको देह और आत्मा का भेददर्शन है, उसको प्राथमिक योगावस्था में और पूर्ण

१. श्री समयसार, कलश १३०-१३१
२. श्री समयसार, कलश १३१
३. श्री समयसार, गाथा २ की टीका

जगत्प्रतिभासत इत्याह -

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्॥ ८०॥

पूर्वं प्रथमं दृष्टात्मतत्त्वस्य देहाद्भेदेन प्रतिपन्नात्मस्वरूपस्य प्रारब्धयोगिनः विभात्युन्मत्तवज्जगत् स्वरूपचिंतनविकलत्वाच्छुभेतरचेष्टायुक्तमिदं जगत् नानाबाह्य-विकल्पैरूपेतमुन्मत्तमिव प्रतिभासते। पश्चान्निष्पन्नयोगावस्थायां सत्यां स्वभ्यस्तात्मधियः सुष्ठुभावितमात्मस्वरूपं येन तस्य निश्चलात्मस्वरूपमनुभवतो जगद्विषयचिन्ताभावात् काष्ठपाषाणरूपवत्प्रतिभाति। न तु परमौदासीन्यावलम्बात्॥८०॥

(सिद्धि) योगावस्था में जगत कैसा प्रतिभासित होता है ?–वह कहते हैं :—

ज्ञानीजन को जग प्रथम, भासे मत्त समान।
फिर अभ्यास विशेष से, दिखे काष्ठ-पाषाण॥ ८०॥

अन्वयार्थ :- **(दृष्टात्मतत्त्वस्य)** जिसे आत्मदर्शन हो गया है — ऐसे योगी जीव को **(पूर्वं)** योगाभ्यास की प्राथमिक अवस्था में **(जगत्)** जगत **(उन्मत्तवत्)** उन्मत्त-सरीखा / पागलवत् **(विभाति)** ज्ञात होता है, किन्तु **(पश्चात्)** बाद को जब योग की निष्पन्नावस्था हो जाती है, तब **(स्वभ्यस्तात्मधियः)** आत्मस्वरूप के अभ्यास में परिपक्व हुए अन्तरात्मा को **(काष्ठपाषाणरूपवत्)** यह जगत, काठ और पत्थर के समान चेष्टारहित मालूम होने लगता है।

टीका :- प्रथम, जिसने आत्मतत्त्व जाना है, अर्थात् देह से आत्मस्वरूप भिन्न है — ऐसा जिसको प्रथम ज्ञान हुआ है, वैसे योग का आरम्भ करनेवाले योगी को जगत उन्मत्तवत् (पागलवत्) लगता है, अर्थात् स्वरूप चिन्तन के विकलपने के कारण, शुभ-अशुभ चेष्टायुक्त यह जगत, विविध बाह्य विकल्पयुक्त उन्मत्त जैसा लगता है। तत्पश्चात्, अर्थात् जब योग की परिपक्व अवस्था होती है, तब जिसको आत्मबुद्धि का अच्छा अभ्यास हुआ है, अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप की अच्छी तरह से भावना की है, उस निश्चल आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले को, जगत सम्बन्धी चिन्ता के अभाव के कारण, अर्थात् परम उदासीनपने के अवलम्बन के कारण, वह (जगत) काष्ठपाषाणवत् प्रतिभासित होता है ॥८०॥

ननु स्वभ्यस्तात्मधियः इति व्यर्थम्। शरीराद्‌भेदेनात्मनस्तत्तत्स्वस्वरूपविद्‌भ्यः श्रवणात्स्वयं वाऽन्येषां तत्स्वरूपप्रतिपादनान्मुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्‌क्याह -

भावार्थ :- *जिसको स्व-पर का भेदज्ञान हुआ है, उस अन्तरात्मा को, आत्मानुभव की प्रथम भूमिका में, अर्थात् योग के आरम्भकाल में यह अचेष्ट और विकल्पारूढ़ जगत, उन्मत्तवत्-पागलवत् लगता है, परन्तु बाद में जब वह योग के परिपक्व अभ्यास द्वारा आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है, तब उसको इस जगत सम्बन्धी बुद्धिपूर्वक कुछ विकल्प उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उस समय उसको निर्विकल्पदशा वर्तती है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

प्रथम भूमिका में, अर्थात् सविकल्पदशा में ज्ञानी का उपयोग, बाह्य पदार्थों की ओर जाता है और इससे विविध विकल्प होते हैं परन्तु जैसे-जैसे वह स्वरूपस्थिरता का अभ्यास बढ़ाता जाता है, वैसे-वैसे उपयोग का परसन्मुखता का झुकाव छूटता जाता है और वह स्वरूप में स्थिर होता जाता है। अभ्यास के बल से अन्त में आत्मस्वरूप में उपयोग की स्थिरता इतनी जमती है कि उसको उस समय जगत का विचार बिलकुल भी नहीं आता।

'तथा जो ज्ञान, पाँच इन्द्रियों और छठवें मन के द्वारा प्रवर्तता था, वह ज्ञान, सब ओर से सिमटकर इस निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूपसन्मुख हुआ क्योंकि वह ज्ञान, क्षयोपशमरूप है; इसलिए एक काल में एक ज्ञेय ही को जानता है। वह ज्ञान, स्वरूप जानने को प्रवर्तित हुआ, तब अन्य का जानना सहज ही रह गया। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादि विकार हों तो भी स्वरूपध्यानी को कुछ खबर नहीं..... [१]'

स्वभ्यस्तान्मधियं: - यह पद व्यर्थ है, क्योंकि 'शरीर से आत्मा भिन्न है' — ऐसे उनके स्वरूप को जाननेवालों के पास से सुनने से अथवा स्वयं दूसरों को उसका स्वरूप समझाने से मुक्ति हो सकती है — ऐसी आशङ्का करके कहते हैं :—

सुने बहुत आतम-कथा, मुँह से कहता आप।
किन्तु भिन्न-अनुभूति बिन, नहीं मुक्ति का लाभ॥ ८१॥

१. रहस्यपूर्ण चिट्ठी, (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-३४३), पण्डित टोडरमलजी

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक्॥ ८१॥

अन्यत उपाध्यायादेः कामं अत्यर्थं श्रृणवन्नपि कलेवराद्भिन्नमात्मानमाकर्णयन्नपि ततो भिन्नं तं स्वयमन्यान् प्रति वदन्नपि यावत्कलेवराद्भिन्नमात्मानं न भावयेत्। तावन्न मोक्षभाक् मोक्षभाजनं तावन्न भवेत्॥८१॥

अन्वयार्थ :- आत्मा का स्वरूप **(अन्यतः)** उपाध्याय आदि गुरुओं के मुख से **(कामं)** बहुत ही **(शृण्वन्नपि)** सुनने पर तथा **(कलेवरात्)** अपने मुख से **(वदन्नपि)** दूसरों को बतलाते हुए भी **(यावत्)** जब तक **(आत्मानं)** आत्मस्वरूप की **(भिन्नं)** शरीरादि परपदार्थों से भिन्न **(न भावयेत्)** भावना नहीं की जाती, **(तावत्)** तब तक **(मोक्षभाक् न)** यह जीव, मोक्ष का पात्र नहीं होता।

टीका :- अन्य के पास से, अर्थात् उपाध्यायादि के पास से बहुत ही सुनने पर भी, अर्थात् शरीर से आत्मा भिन्न है — ऐसा श्रवण करने पर भी; उनसे (शरीरादि से) वह (आत्मा) भिन्न है — ऐसा स्वयं अन्य के प्रति (दूसरों को) कहने पर भी, जब तक 'शरीर से आत्मा भिन्न है' — ऐसी भावना न करे, तब तक जीव, मोक्षभाजन-मोक्षपात्र नहीं हो सकता॥८१॥

भावार्थ :- *'शरीरादि से आत्मा भिन्न है' — यह बात बहुत बार गुरुमुख से सुने तथा अन्य को वैसा उपदेश भी बारम्बार दे तो भी जब तक आत्मा को शरीरादि से दृढ़रूप से भिन्न अनुभव नहीं करे, अर्थात् जब तक स्वसन्मुखतापूर्वक उसको उसका भावभासन न हो, तब तक जीव, मुक्तियोग्य नहीं बन सकता।*

विशेष स्पष्टीकरण -

भेदविज्ञान द्वारा स्वसन्मुखतापूर्वक जीव-अजीवादि तत्त्वों का भावभासन होना — सच्ची प्रतीति होना ही निश्चयसम्यक्त्व है। इसके बिना जीव, मोक्ष का पात्र नहीं होता।

इस सम्बन्ध में पण्डित टोडरमलजी कहते हैं :—

''तथा शास्त्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' (तत्त्वार्थसूत्र १/२) ऐसा वचन कहा है, इसलिए शास्त्रों में जैसे जीवादितत्त्व लिखे हैं, वैसे आप सीख लेता है और वहाँ

तद्भावनायां च प्रवृत्तौऽसौ किं कुर्यादित्याह -

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥८२॥

उपयोग लगाता है, औरों को उपदेश देता है, परन्तु उन तत्त्वों का भाव भासित नहीं होता, और यहाँ उस वस्तु के भाव ही का नाम तत्त्व कहा है। सो भाव भासित हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धान कैसे होगा?''

'तथा किसी समय शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है, परन्तु अन्तरङ्ग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है; इसलिए जिस प्रकार मतवाला, माता को माता भी कहे तो वह सयाना नहीं है; इसी प्रकार इसको सम्यक्त्वी नहीं कहते।'

'तथा जैसे किसी और की ही बातें कर रहा हो, उस प्रकार से आत्मा का कथन करता है परन्तु यह आत्मा 'मैं हूँ' — ऐसा भाव भासित नहीं होता।'

'तथा जैसे किसी और का और से भिन्न बतलाता हो, उस प्रकार आत्मा और शरीर की भिन्नता प्ररूपित करता है परन्तु मैं, इन शरीरादिक से भिन्न हूँ — ऐसा भाव भासित नहीं होता।'[1]

श्री शुभचन्द्राचार्य कहते हैं :—

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः॥

अर्थात्, *'शरीर से आत्मा भिन्न है — ऐसा सुनने तथा बोलने पर भी, जब तक वह (दोनों के) भेदाभ्यास में परिपक्व नहीं होता, तब तक वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।'*

(ज्ञानार्णव, शुद्धोपयोगाधिकार, गाथा-८५)

इसलिए, 'आत्मा शरीर से भिन्न है' — ऐसा जानने पर भी, यदि उसका भावभासन न होवे, अर्थात् अनुभव में न आवे तो यह जानना कार्यकारी नहीं है।

इस भावना में प्रवृत्त होकर उसको (अन्तरात्मा को) क्या करना चाहिए? सो कहते हैं :—

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२२४ व २२५

देहाद्व्यावृत्य शरीरात्पृथक्कृत्वा आत्मानं स्वस्वरूपं आत्मनि स्थितं तथैव भावयेत् शरीराद्‌भेदेन दृढतरभेदभावनाप्रकारेण भावयेत्। यथा पुनः स्वप्ने स्वप्नावस्थायां देहे उपलब्धेपि तत्र आत्मानं न योजयेत् देहमात्मतया नाध्यवस्येत्॥८२॥

आत्मा तन से भिन्न गिन, करे सतत अभ्यास।
जिससे तन का स्वप्न में, हो न कभी विश्वास॥ ८२॥

अन्वयार्थ :- अन्तरात्मा, **(देहात्)** शरीर से **(आत्मानं)** आत्मा को **(व्यावृत्य)** भिन्न अनुभव करके **(आत्मनि)** आत्मा में ही **(तथैव)** उस प्रकार से **(भावयेत्)** भावना करे **(यथा पुनः)** जिस प्रकार से फिर **(स्वप्नेऽपि)** स्वप्न में भी **(देहे)** शरीर की उपलब्धि होने पर, उसमें **(आत्मानं)** आत्मा को **(न योजयेत्)** योजित न करे, अर्थात् आत्मा न समझ बैठे।

टीका :- देह से आत्मा को व्यावृत्त करके (भिन्न अनुभव करके) — शरीर से पृथक् करके (अनुभव करके), आत्मा में स्थित स्वस्वरूप को इस प्रकार भाना (अनुभवना), अर्थात् शरीर के भेद करके (भिन्न करके) दृढ़तर भेदभावना के प्रकार से (इस प्रकार) भाना कि फिर से स्वप्न में भी-स्वप्न अवस्था में भी देह की उपलब्धि (प्राप्ति) हो तो भी उसमें (देह में) आत्मा का जुड़ान नहीं हो, अर्थात् देह को आत्मस्वरूपपने मानने में नहीं आवे॥८२॥

भावार्थ :- *शरीर से आत्मा को भिन्न जानकर, अर्थात् आत्मा को आत्मारूप ही जानकर; शरीररूप नहीं जानकर, उसकी ऐसी दृढ़ भावना करनी कि स्वप्न में भी फिर से देह को आत्मा मानने का अध्यवसाय नहीं हो।*

विशेष स्पष्टीकरण -

स्व-पर को भिन्न जानने का चिह्न तो ज्ञान-वैराग्यशक्ति है। भेदविज्ञान की भावना से यह वैराग्यभाव, अर्थात् राग से विरुद्धभाव — परपदार्थों में उपेक्षाभाव, यदि श्रद्धा और ज्ञान में भी न हो, तो वह भाव कार्यकारी नहीं है।

कहा भी है :—

सम्यग्दृष्टे र्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।

यथा परमौदासीन्यावस्थायां स्वपरविकल्पस्त्याज्यस्तथा व्रतविकल्पोऽपि यतः -

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥ ८३॥

अपुण्यमधर्मः अव्रतैर्हिंसादिविकल्पैः परिणतस्य भवति। पुण्यं धर्मो व्रतैः हिंसादिविरतिविकल्पैः परिणतस्य भवति। मोक्षः पुनस्तयोः पुण्यापुण्ययोर्व्ययो

यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्॥

अर्थात्,** सम्यग्दृष्टि को नियम से ज्ञान और वैराग्यशक्ति होती है, क्योंकि वह (सम्यग्दृष्टि जीव), स्वरूप का ग्रहण और पर का त्याग करने की विधि द्वारा, अपने वस्तुत्व का (यथार्थ स्वरूप का) अभ्यास करने के लिए 'यह स्व है, (अर्थात्, आत्मस्वरूप है) और यह पर है' — ऐसा भेद, परमार्थ से जानकर, स्व में रहता है (टिकता है) और पर से-राग के योग से-सर्व प्रकार विरमता (रुकता) है।* ***(श्री समयसार, कलश १३६)

अन्तरात्मा, भेदविज्ञान की दृढ़भावना से शरीरादि परपदार्थों के प्रति उपेक्षाभाव का सेवन करता है।

जैसे, परम उदासीन अवस्था में स्व-पर का विकल्प त्यागनेयोग्य है, वैसे ही व्रत का विकल्प भी (त्यागने योग्य है) क्योंकि :—

व्रत-अव्रत से पुण्य-पाप, मोक्ष उभय का नाश।
अव्रतसम व्रत भी तजो, यदि मोक्ष की आश॥८३॥

अन्वयार्थ :- **(अवत्तैः)** हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप पाँच अव्रतों से **(अपुण्यम्)** पाप का बन्ध होता है और **(व्रतैः)** अहिंसादिक व्रतों से **(पुण्यं)** पुण्य का बन्ध होता है **(तयोः)** पुण्य और पाप दोनों का **(व्ययः)** जो विनाश है, वही **(मोक्षः)** मोक्ष है; **(ततः)** इसलिए **(मोक्षार्थी)** मोक्ष के इच्छुक पुरुष को **(अव्रतानि इव)** अव्रतों की भाँति **(व्रतानि अपि)** व्रतों का भी **(त्यजेत्)** त्याग करना।

टीका :- अव्रतों से, अर्थात् हिंसादि विकल्पों से परिणत (जीव) के अपुण्य— अधर्म होता है और व्रतों से, अर्थात् अहिंसादि विकल्पों से परिणत (जीव) के पुण्य—धर्म होता है।

विनाशो। यथैव हि लोहश्रृङ्खला बंधहेतुस्तथा सुवर्णश्रृङ्खलाऽपि। अतो यथोभय-श्रृङ्खलाभावाद्व्यवहारे मुक्तिस्तथा परमार्थेऽपीति। ततस्तस्मात् मोक्षार्थी अव्रतानीव इव शब्दो यथाऽर्थः यथाऽव्रतानि त्यजेत्तथा व्रतान्यपि॥८३॥

कथं तानि त्यजेदिति तेषां त्यागक्रमं दर्शयन्नाह -

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥ ८४॥

मोक्ष तो, इन दोनों को, अर्थात् पुण्य और अपुण्य का व्यय, अर्थात् विनाश, वह मोक्ष है। जैसे, लोहे की बेड़ी बन्ध का कारण है (अर्थात्, उससे बन्ध होता है), उसी प्रकार सुवर्ण की बेड़ी भी (बन्ध का कारण है); इसलिए जैसे दोनों बेड़ियों के अभाव से, व्यवहार में मुक्ति (छुटकारा) है; उसी प्रकार परमार्थ में भी (पुण्य-पाप के अभाव से मोक्ष है); इसलिए मोक्षार्थी को अव्रत की तरह, व्रतों को भी छोड़ना। (**इव** शब्द **यथा** के अर्थ में है) ॥८३॥

भावार्थ :- *मोक्षमार्ग में हिंसादि पाँच अव्रतभावों की तरह, पाँच अहिंसादि व्रतभाव भी बाधक हैं क्योंकि अव्रतभाव, अशुभभाव है; वह पापबन्ध का कारण है, और व्रतभाव शुभभाव है; वह पुण्यबन्ध का कारण है; दोनों बन्ध के कारण हैं। पुण्य और पाप इन दोनों का नाश हो, तभी मुक्ति होती है; इसलिए मोक्षार्थी को लोहे और सोने की बेड़ी के समान अव्रतभावों का तथा व्रतभावों का भी त्याग करना चाहिए।*[1]

पुण्य और पाप दोनों विभावपरिणति से उत्पन्न होने से, दोनों बन्धरूप ही हैं, दोनों संसार का कारण होकर एकरूप ही है; इसलिए मोक्षार्थी को इन दोनों का त्याग करके निरन्तर शुद्धोपयोग की भावना भाकर, आत्मस्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न करना योग्य है।

उनको किस प्रकार तजना? — उनका त्याग-क्रम दर्शाते हुए कहते हैं :—

हिंसादिक को छोड़कर, होय अहिंसा निष्ठ।
राग व्रतों का भी तजे, हो चैतन्य प्रविष्ठ॥ ८४॥

अन्वयार्थ :- **(अव्रतानि)** हिंसादिक पञ्च अव्रतों को **(परित्यज्य)** छोड़ करके,

---

१. श्री समयसार, गाथा १४५ से १५० (सारांश)

अव्रतानि हिंसादीनि प्रथमतः परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितो भवेत्। पश्चात्तान्यपि त्यजेत्। किं कृत्वा ? सम्प्राप्य। किं तत् ? परमं पदं परमवीतरागतालक्षणं क्षीणकषाय-गुणस्थानं। कस्य तत्पदं ? आत्मनः ॥८४॥

(व्रतेषु) अहिंसादिक व्रतों में **(परिनिष्ठितः)** निष्ठावान रहना, अर्थात् उनका दृढ़ता के साथ पालन करना; बाद में **(आत्मनः)** आत्मा के **(परमं पदं)** राग-द्वेषादि रहित परम वीतराग पद को **(प्राप्य)** प्राप्त करके **(तान् अपि)** उन व्रतों को भी **(त्यजेत्)** त्याग देना।

टीका :- प्रथम, हिंसादि अव्रतों का परित्याग करके, व्रतों में परिनिष्ठित होना। तत्पश्चात् उनका भी त्याग करना। क्या करके ? (प्राप्त करके क्या) (प्राप्ति करके) ? परमपद को, अर्थात् परम वीतरागतारूप क्षीणकषाय गुणस्थान (प्राप्त करके)। किसके उस पद को ? आत्मा के ॥८४॥

भावार्थ :- *अव्रत, अशुभभाव है; तथा व्रत, शुभभाव है; दोनों आस्रव हैं। ये दोनों छोड़ने योग्य हैं — ऐसी श्रद्धा तो अन्तरात्मा को है, परन्तु इन दोनों को एक साथ नहीं छोड़ा जा सकता होने से, वह प्रथम अशुभभावरूप अव्रतों को छोड़कर, शुभभावरूप व्रतों में अतन्मयभाव से वर्तता है, फिर पुरुषार्थ बढ़ाकर, वीतरागपद की प्राप्ति के लिए इन शुभभावरूप व्रतों का भी त्याग करता है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

जब तक सम्यग्दृष्टि, शुद्धोपयोगरूप नहीं परिणमे, तब तक उसको अशुभ से बचने के लिए पूजा, भक्ति, व्रत, तप, संयम, शीलादि के शुभभाव आते हैं परन्तु उसको उनमें हेयबुद्धि वर्तती है; वह उनको धर्म नहीं मानता।

सम्यक्त्व के बिना, व्रतादि के शुभविकल्पों को व्यवहार से चारित्र नाम भी प्राप्त नहीं होता, अर्थात् मिथ्यादृष्टि के शुभविकल्पों को तो व्यवहार से भी चारित्र नहीं कहते। वे तो बालव्रत-तपादि कहलाते हैं। वे शुभविकल्प, संसार के कारण हैं; मोक्ष का कारण नहीं, तथापि यदि कोई उनको मोक्ष का परम्परा कारण मानता है तो यह उसकी मूल में भूल है।

कुतोऽव्रतव्रतविकल्पपरित्यागे परमपदप्राप्तिरित्याह -

यदन्त-जेल्प-संपृक्त-मुत्प्रेक्षा-जाल-मात्मनः।
मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम्॥ ८५॥

यदुत्प्रेक्षाजालं चिन्ताजालं। कथम्भूतं ? अन्तर्जल्पसंपृक्तं अन्तर्वचनव्यापारोपेतं। आत्मनो दुःखस्य मूलं कारणं। तन्नाशे तस्योत्प्रेक्षाजालस्य विनाशे। इष्टमभिलषितं यत्पदं तच्छिष्टं प्रतिपादितम्॥८५॥

अव्रत-व्रत के विकल्प का परित्याग करने पर, परमपद की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? वह कहते हैं :—

अन्तर्जल्प क्रिया लिये, विविध कल्पना-जाल।
हो समूल निर्मूल तो, मोक्ष होय तत्काल॥ ८५॥

अन्वयार्थ :- **(अन्तर्जल्पसंपृक्तं)** अन्तरङ्ग जल्पयुक्त **(यत् उत्प्रेक्षाजालं)** जो विकल्पजाल है, वही **(आत्मनः)** आत्मा के **(दुःखस्य)** दुःख का **(मूलं)** मूलकारण है, **(तन्नाशे)** उसका, अर्थात् विकल्पजाल का विनाश होने पर, **(इष्टं)** हितकारी **(परमं पदं शिष्टं)** परमपद की प्राप्ति होती है — ऐसा प्रतिपादन किया है।

टीका :- जो उत्प्रेक्षाजाल, अर्थात् विकल्पजाल है, वह कैसा है ? अन्तर्जल्प से युक्त, अर्थात् अन्तरङ्ग वचनव्यापार से युक्त है; वह आत्मा के दुःख का मूल, अर्थात् कारण है। उसका नाश होने पर, अर्थात् उस उत्प्रेक्षाजाल का (विकल्पजाल का) नाश होने पर, जो पद इष्ट, अर्थात् अभिलषित है (जिस पद की अभिलाषा की गयी है), वह शिष्ट है, अर्थात् उसका प्रतिपादन किया गया है॥८५॥

भावार्थ :- *अन्तरङ्गजल्प (सूक्ष्म वचनप्रवृत्ति) युक्त जो अनेक प्रकार के विकल्परूप कल्पनाजाल हैं, वे संसारी आत्मा के दुःख का मूल हैं। उसका नाश हो, तभी परम वीतरागपद की प्राप्ति होती है।*

यह जीव, अपने चिदानन्दमय परम अतीन्द्रिय अविनाशी निर्विकल्पस्वरूप को भूलकर, जब तक बाह्यविषयों के लक्ष्य से दुःखों के मूलकारणभूत अन्तर्जल्परूप अनेक विकल्पों के जाल में फँसा रहता है, तब तक उसको सुखमय परमवीतरागपद की प्राप्ति नहीं होती। उस

पद की प्राप्ति तो उसे ही होती है, जो अन्तर्जल्परूप विकल्पों के जाल का सर्वथा त्याग करके, अपने चैतन्यचमत्काररूप विज्ञानघन आत्मा में लीन हो जाता है।

विशेष स्पष्टीकरण *–*

हिंसादि अव्रतरूप अशुभविकल्प और अहिंसादि व्रतरूप शुभविकल्प — दोनों प्रकार के विकल्प, राग-द्वेषरूप होने से आत्मस्वरूप के घातक हैं। भगवान की पूजा, भक्ति, अणुव्रत-महाव्रतादि तथा तपादि करने के भाव भी शुभविकल्प हैं। इन समस्त शुभाशुभ विकल्पों से हटकर, उपयोग जब आत्मस्वरूप में स्थिर होता है, तभी परम वीतरागपद की प्राप्ति होती है।

'आत्मा को आत्मा के द्वारा, पुण्य-पापरूप शुभाशुभयोगों से रोककर, दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ और अन्य वस्तु की इच्छा से विरत होता हुआ, जो आत्मा (इच्छारहित होने से), सर्व सङ्ग से रहित होता हुआ, (अपने) आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्याता है और कर्म तथा नोकर्म को नहीं ध्याता एवं (स्वयं) चेतयिता (ज्ञाता-दृष्टा) होने से एकत्व का ही चिन्तन करता है-चेतता है-अनुभव करता है, वह (आत्मा), आत्मा को ध्याता हुआ, दर्शन-ज्ञानमय और अनन्यमय होता हुआ, अल्प काल में ही कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।[1]'

'वस्तुस्वरूप को ज्यों का त्यों जानकर, जहाँ ज्ञान उसमें एकाग्र होता है, वहाँ राग अथवा विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, इसी का नाम चित्त का निरोध है। इसके अतिरिक्त 'मैं चित्त को रोकूँ, मैं विकल्प को रोकूँ' — ऐसी नास्ति के लक्ष्य से कही विकल्प नहीं टूटता है परन्तु विकल्प उत्पन्न होता है। मैं चैतन्यमय स्वभाव हूँ — इस तरह अस्तिस्वभाव की ओर ज्ञान का बल देने से, चित्त का निरोध सहज हो जाता है। स्वभाव के ओर की एकाग्रता के जोर से राग का-विकल्प का अभाव हो जाता है; इसलिए पहले वस्तु के स्वभाव को सभी पहलुओं से जैसा है, वैसा जानना चाहिए।[2]'

'जहाँ श्रुतज्ञान को (स्व) सन्मुख झुकाकर अन्दर स्वभाव में एकाग्र किया, वहाँ सर्व विकल्प सहज विलय को प्राप्त होते हैं और अनन्त धर्मों का चैतन्यपिण्ड स्वसंवेदन में आ जाता है।[3]'

---

१. श्री समयसार, गाथा १८७-१८८-१८९
२-३. श्री नयप्रज्ञापन, पृष्ठ-४, २७

तस्य चोत्प्रेक्षाजालस्य नाशं कुर्वाणोऽनेन क्रमेण कुर्यादित्याह-

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत्॥ ८६॥

अव्रतित्वावस्थाभावि विकल्पजालं व्रतमादाय विनाशयेत् व्रतित्वावस्थाभावि पुनर्विकल्पजालं ज्ञानपरायणो ज्ञानभावनानिष्ठो भूत्वा परमवीतरागतावस्थायां विनाशयेत्। संयोगिजिनावस्थायां परात्मज्ञानसम्पन्नः परं सकलज्ञानेभ्यः उत्कृष्टं तच्च तदात्मज्ञानं च केवलज्ञानं तेन सम्पन्नो युक्तः स्वयमेव गुर्वाद्युपदेशानपेक्षः परः सिद्धस्वरूपः परमात्मा भवेत्॥८६॥

उस उत्प्रेक्षाजाल के नाश करनेवाले को इस क्रम से करना चाहिए, यह कहते हैं :—

करें अव्रती व्रत-ग्रहण, व्रती ज्ञान में लीन।
फिर हों केवलज्ञानयुत, बनें सिद्ध स्वाधीन॥ ८६॥

अन्वयार्थ :- (**अव्रती**) हिंसादिक पञ्च अव्रतों में अनुरक्त हुए मनुष्य को (**व्रतं आदाय**) अहिंसादि व्रतों को ग्रहण करके, अव्रतावस्था में होनेवाले विकल्पों का नाश करना तथा (**व्रती**) अहिंसादिक व्रतों के धारक को (**ज्ञानपरायणः**) ज्ञानभावना में लीन होकर, व्रतावस्था में होनेवाले विकल्पों का नाश करना और फिर अरहन्त-अवस्था में (**परात्मज्ञानसम्पन्नः**) केवलज्ञान से युक्त होकर (**परः भवेत्**) परमात्मा होना —सिद्धस्वरूप को प्राप्त करे।

टीका :- अव्रतीपने की अवस्था में होते विकल्पों के जाल का, व्रत ग्रहण करके विनाश करना तथा व्रतीपने की अवस्था में होते विकल्पों के जाल का, ज्ञानपरायण होकर, अर्थात् ज्ञानभावना में लीन होकर, परम वीतरागता की अवस्था में (उनका) विनाश करना। सयोगीजिन अवस्था में परात्मज्ञानसम्पन्न, अर्थात् पर / सर्व ज्ञानों में उत्कृष्ट जो आत्मज्ञान — जो केवलज्ञान, उससे सम्पन्न, अर्थात् युक्त होकर, स्वयं ही, अर्थात् गुरु आदि के उपदेश की अपेक्षा रखे बिना, (निरपेक्ष होकर) पर, अर्थात् सिद्धस्वरूप परमात्मा होना॥८६॥

भावार्थ :- *विकल्पजाल का त्याग करके किस प्रकार सिद्धस्वरूप की प्राप्ति करना? — उसका क्रम आचार्यों ने निम्नानुसार बतलाया है :—*

१. अव्रत-अवस्था में जो हिंसादि पाप के विकल्प होते हैं, उनका अहिंसादि व्रतों का ग्रहण करके नाश करना।

२. व्रत-अवस्था में जो अहिंसादि शुभभावरूप विकल्प होते हैं, उनका ज्ञानपरायण होकर, अर्थात् ज्ञानभावना में लीन होकर विनाश करना।

३. ज्ञानभावना में लीन होने पर, परम वीतराग तथा केवलज्ञानयुक्त जिनदशा (अरहन्त अवस्था) प्रगट होती है, और

४. स्वयं ही सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

विशेष स्पष्टीकरण -

'व्रत-अव्रत — इन दोनों विकल्परहित, जहाँ परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का कुछ प्रयोजन नहीं है — ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग है, वही मोक्षमार्ग है.........

...........पहले अशुभोपयोग छूटकर, शुभोपयोग होता है, पश्चात् शुभोपयोग छूटकर, शुद्धोपयोग होता है — ऐसी क्रम परिपाटी है।[१] '

धर्म का प्रारम्भ चौथे अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान से होता है। इसके पूर्व जीव की मिथ्यात्व अवस्था होती है। इस अवस्था में जो व्रत-तपादि करने को विकल्प आता है, वे सब बालतप गिने जाते हैं।[२]

अविरत सम्यग्दृष्टियों को, देशविरत श्रावकों को और मुनियों को भूमिकानुसार शुभ -अशुभविकल्प आते हैं परन्तु उनको भेदविज्ञान होने से, उन विकल्पों को वे श्रद्धा-ज्ञान में, अपना स्वरूप नहीं मानते; उनको शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति में विघ्नरूप मानते हैं और उनको छोड़ने के लिए अपनी भूमिकानुसार प्रयत्न करते हैं।

श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि —

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१२॥

---

१. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२५४-२५५ २. श्री समयसार, गाथा १५२-१५३

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१३॥
येनांशेन चारित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१४॥

'जिसको (सम्यग्दृष्टि श्रावक को) जितने अंश में सम्यग्दर्शन होता है, (शुद्धि है-शुद्धभाव है; रागरहित अंश है), उतने अंश में उनके बन्ध नहीं हैं; जितने अंश में राग है, उतने अंश में उनको बन्धन होता है।

उनको जितने अंश में सम्यग्ज्ञान है, उतने अंश में बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है।

उनको जितने अंश में सम्यक्चारित्र है, उतने अंश में उनको बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग है, उतने अंश में उनको बन्ध होता है।'

इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दृष्टि को जो भूमिकानुसार पूजा, भक्ति आदि तथा व्रत, महाव्रत, नियमादि का शुभभाव आता है, वह भी आस्रव-बन्ध का कारण है परन्तु वह संवर-निर्जरा का कारण नहीं है; संवर-निर्जरा का कारण तो शुभ अंशों के साथ जो शुद्ध अंश है, वही है। जो शुभराग बन्ध का कारण हो, वह कभी मोक्ष का कारण नहीं हो सकता; इसलिए व्रतादि के शुभविकल्पों को भी, अव्रतादि के अशुभविकल्पों की भाँति मोक्षमार्ग में हेय / छोड़नेयोग्य गिना गया है।

'जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तब तक सम्यग्दृष्टि के दो धाराएँ रहती हैं — शुभाशुभकर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई भी विरोध नहीं है। (जैसे, मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के परस्पर विरोध है; वैसे कर्मसामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में कर्म, अपना कार्य करता है और ज्ञान, अपना कार्य करता है। जितने अंश में शुभाशुभकर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प या व्रत, नियम के विकल्प अथवा शुद्धस्वरूप का विचार तक भी कर्मबन्ध का कारण है; शुद्धपरिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।[१]'

१. श्री समयसार कलश ११० का भावार्थ

यथा च व्रतविकल्पो मुक्तिहेतुर्न भवति तथा लिङ्गविकल्पोऽपीत्याह -

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताऽऽग्रहा॥ ८७॥

लिङ्गं जटाधारणनग्नत्वादि देहाश्रितं दृष्टं शरीरधर्मतया प्रतिपन्नं। देह एवात्मनो भवः संसारः। यत एवं तस्माद्ये लिंगकृताग्रहाः लिंगमेव मुक्तेर्हेतुरिति कृताभिनिवेशास्ते न मुच्यंते। कस्मात् भवात्॥८७॥

सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से जो निर्विकल्पदशा प्रगट होती है, उस दशा में आत्मस्वरूप में स्थिरता जमती जाती है और अन्त में शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

जैसे, व्रत का विकल्प, मुक्ति का हेतु नहीं है; वैसे लिङ्ग का विकल्प भी मुक्ति का हेतु नहीं है, यह कहते हैं :—

लिङ्ग देह आश्रित दिखे, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह लिङ्ग का, कभी न होंय विदेह॥ ८७॥

अन्वयार्थ : - (**लिङ्ग**) लिङ्ग, अर्थात् नग्नपना आदि वेष (**देहाश्रितं दृष्टं**) शरीर के आश्रित देखा जाता है (**देह एव**) और शरीर ही (**आत्मनः**) आत्मा का (**भवः**) संसार है; (**तस्मात्**) इसलिए (**ये लिङ्गकृताग्रहाः**) जो लिङ्ग के ही आग्रही हैं, (**ते**) वे पुरुष (**भवात्**) संसार से (**न मुच्यन्ते**) नहीं छूटते हैं — मुक्त नहीं होते।

टीका : - लिङ्ग, अर्थात् जटाधारण, नग्नपना आदि — वह देहाश्रित दिखता है, अर्थात् शरीर के धर्मरूप मानने में आता है। देह ही आत्मा का भव, अर्थात् संसार है; इसलिए जो लिङ्ग में आग्रह रखते हैं, अर्थात् लिङ्ग ही मुक्ति का हेतु है — ऐसे अभिनिवेशवाले जो हैं, वे मुक्त नहीं होते। किससे ? भव से (संसार से) ॥८७॥

भावार्थ : *- जो जीव, केवल लिङ्ग, अर्थात् बाह्य वेष को ही मोक्ष का कारण मानता है, वे देहात्मदृष्टि हैं, अर्थात् वह देह कोही आत्मा मानता है; इसलिए वह मुक्ति प्राप्त नहीं करता। लिङ्ग, शरीर के आश्रित है और शरीर के साथ के सम्बन्ध से ही आत्म का संसार है; शरीर के अभाव में संसार नहीं होता; इसलिए जो लिङ्ग का आग्रही है, अर्थात् जो*

येऽपि 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरतः स एव परमपदयोग्य' इति वदन्ति तेऽपि न

लिङ्ग को ही मुक्ति का कारण समझता है, वह संसार का ही आग्रही है; वह कभी भी संसार से नहीं छूट सकता।

विशेष स्पष्टीकरण –

अन्तरङ्ग वीतरागस्वरूप आत्मा के धर्म बिना, लिङ्गमात्र से–बाह्य वेषमात्र से धर्म की सम्पत्तिरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती; इसलिए राग–द्वेषरहित आत्मा का शुद्ध ज्ञान –दर्शनरूप स्वभाव, जो अन्तरङ्ग भावधर्म है, उसे हे भव्य! तू जान! बाह्यलिङ्ग वेषमात्र से तुझे क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं।[1]

शरीर की नग्न अवस्था, अट्ठाईस मूलगुणों का पालनादि बाह्य लिङ्ग — यह मुनि अवस्था में नियम से होता है, इससे विरुद्धदशा हो तो वह भावलिङ्गी मुनि नहीं होता, परन्तु इस बाह्य लिङ्ग से अथवा अट्ठाईस मूलगुणों के पालन से मोक्ष होता है — यदि ऐसी श्रद्धा करे तो वह मिथ्यादृष्टि है। लिङ्ग सम्बन्धी विकल्प भी आत्मसाधना में बाधक हैं। यहाँ कहने का आशय यह नहीं है कि मुनि को कैसा भी बाह्यलिङ्ग हो तो चलता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जो तीन प्रकार के लिङ्ग कहे हैं,[2] वे उस–उस गुणस्थान में नियम से होते अवश्य हैं परन्तु उनके लक्ष्य से मोक्ष नहीं होता, अपितु उनके लक्ष्य से राग होता है; इसलिए उस ओर का झुकाव और विकल्प छोड़कर, आत्मा में लीन होने के लिए यह श्लोक कहा है।

'वर्णों में ब्राह्मण, गुरु हैं; इसलिए वही परमपद के योग्य हैं' — ऐसा जो बोलता है, वह

१. धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती। जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो॥

अर्थात्, धर्म सहित तो लिंग होता है परन्तु लिंगमात्र ही से धर्म की प्राप्ति नहीं है, इसलिए हे भव्यजीव! तू भावरूप धर्म को जान और केवल लिंग ही से तेरा क्या कार्य होता है अर्थात् कुछ भी नहीं होता है। *(श्री लिंगपाहुड, गाथा–२, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव)*

२. एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु। अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि॥

अर्थात्, दर्शन में एक तो जिन का स्वरूप है; वहाँ जैसा लिङ्ग जिनदेव ने धारण किया, वही लिङ्ग है तथा दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का लिङ्ग है और तीसरा 'अवस्थित' अर्थात् जघन्यपद में स्थित ऐसी आर्यिकाओं का लिङ्ग है तथा चौथा लिङ्ग दर्शन में है नहीं। *(श्री दर्शनपाहुड, गाथा–१८)*

मुक्तियोग्या इत्याह -

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः॥ ८८॥

जातिर्ब्राह्मणत्वादिर्देहाश्रितेत्यादि सुगमं॥८८॥

तर्हि ब्राह्मणत्वादिजातिविशिष्टो निर्वाणादिदीक्षया दीक्षितो मुक्तिं प्राप्नोतीति वदन्तं प्रत्याह -

---

भी मुक्तियोग्य नहीं है, यह कहते हैं :—

जाति देह आश्रित कही, आत्मा का भव देह।
जिनको आग्रह जाति का, सदा मुक्ति संदेह॥ ८८॥

अन्वयार्थ :- **(जातिः)** ब्राह्मण आदि जाति, **(देहाश्रिता इष्टा)** शरीर के आश्रित देखी गयी है **(देह एव)** और शरीर ही **(आत्मनः भवः)** आत्मा का संसार है; **(तस्मात्)** इसलिए **(ये)** जो जीव, **(जातिकृताग्रहाः)** मुक्ति की प्राप्ति के लिए जाति का हठ पकड़े हुए हैं **(तेऽपि)** वे भी **(भवात्)** संसार से **(न मुच्यन्ते)** नहीं छूट सकते हैं।

टीका :- ब्राह्मणादि देहाश्रित हैं, इत्यादि अर्थ सुगम है। (अर्थात्, समझना सहज है) ॥८८॥

भावार्थ :- *लिङ्ग की तरह जाति भी देहाश्रित है और देह में आत्मबुद्धि, वह संसार है; इसलिए जो मुक्ति के लिए जाति का आग्रह रखते हैं, अर्थात् जाति को ही मुक्ति का मूल मानते हैं, वे भी संसार से नहीं छूटते, क्योंकि वे संसार के आग्रही हैं।*

जाति भी मुनि अवस्था में, जिस प्रकार की आगम में कही है, उस अनुसार नियम से होती है; उससे विरुद्ध जाति, भावलिङ्गी मुनि को नहीं होती। उस जाति से या उस ओर के झुकाव से अथवा विकल्प से मोक्ष नहीं होता, अपितु राग उत्पन्न होता है; इसलिए उस ओर का झुकाव छोड़कर, आत्मसन्मुख होकर, उसमें लीन होने से मोक्ष होता है — ऐसा इस श्लोक से समझना चाहिए।

तब तो ब्राह्मणादि जाति विशिष्ट, निर्वाणादि की दीक्षा से दीक्षित होकर मुक्ति-प्राप्त कर सकते हैं — ऐसा बोलनेवाले के प्रति कहते हैं :—

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तऽपि न प्राप्तनुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥ ८९॥

जातिलिंगरूपोविकल्पो भेदस्तेन येषां शैवादीनां समयाग्रहः आगमानुबधः उत्तमजातिविशिष्टं हि लिंग मुक्तहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमतस्तावन्मात्रेणैव मुक्तिरित्येवंरूपो येषामागमाभिनिवेशः तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥८९॥

जाति-लिङ्ग से मोक्षपद, आगम-आग्रह वान।
नहीं पावे वे आत्म का, परम सुपद निर्वाण॥ ८९॥

अन्वयार्थ :- **(येषां)** जिन्हें **(जातिलिंग-विकल्पेन)** जाति और लिङ्ग के विकल्प से मुक्ति होती है — ऐसा **(समयाग्रहः)** आगमसम्बन्धी आग्रह है, **(ते अपि)** वे भी **(आत्मनः)** आत्मा के **(परमं पदं)** परमपद को **(न प्राप्नुवन्ति एव)** प्राप्त कर नहीं सकते हैं-संसार से मुक्त हो नहीं सकते हैं।

टीका :- जाति और लिङ्गरूप विकल्प, अर्थात् भेद — उससे जो शैवादि को समय का आग्रह, अर्थात् आगम का आग्रह है, अर्थात् उत्तम जातिविशिष्ट लिङ्ग ही मुक्ति का कारण है — ऐसा आगम में प्रतिपादन किया है; इसलिए उसमात्र से ही मुक्ति है — ऐसा जिनको आगम का अभिनिवेश (आग्रह) है, वे भी आत्मा के परमपद को प्राप्त कर ही नहीं सकते॥८९॥

भावार्थ :- *जाति और लिङ्ग, दोनों देहाश्रित हैं, उनकी ओर के विकल्प से राग होता है और राग, संसार है; इसलिए जो ऐसा मानते हैं कि आगम में, जाति और लिङ्ग से मोक्ष होता है — ऐसा प्रतिपादन किया है, वे हठाग्रही हैं और आगम के स्वरूप से अत्यन्त अज्ञात हैं। वीतरागी आगम तो कहता है कि वीतरागता से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और वीतरागता होने पर बाह्य लिङ्गादि होते अवश्य हैं परन्तु उनके आश्रय से मोक्ष नहीं होता; न उनके विकल्प से मोक्ष होता है। जाति-लिङ्ग और उस सम्बन्धी विकल्प से मोक्ष होता है — ऐसा माननेवाला समयाग्रही है; समय का जानकार नहीं है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

लिङ्ग, मोक्ष का सच्चा कारण नहीं है। इसका प्रतिपादन करते हुए श्री कुन्दाकुन्दाचार्य ने

तत्पदप्राप्त्यर्थं जात्यादिविशिष्टे शरीरे निर्ममत्वसिद्ध्यर्थं भोगेभ्यो व्यावृत्यापि पुनर्मोहवशाच्छरीर एवानुबन्धं प्रकुर्वन्तीत्याह -

---

श्री समयसार में कहा है कि :—

पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति॥४०८॥
ण दु होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेवंति॥४०९॥
पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णादं समयसारं॥४१३॥

अर्थात्, *''बहुत प्रकार के मुनिलिङ्गों का अथवा गृहीलिङ्गों को ग्रहण करके, मूढ़ (अज्ञानी) जन ऐसा कहते हैं कि 'यह (बाह्य) लिङ्ग, मोक्षमार्ग है' परन्तु लिङ्ग, मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि अरहन्तदेव, देह के प्रति निर्मम वर्तते हुए लिङ्ग को छोड़कर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही सेवन करते हैं।*

जो बहुत प्रकार के मुनि लिङ्गों में अथवा गृहस्थ लिङ्गों में ममता करते हैं, (अर्थात् द्रव्यलिङ्ग ही मोक्षप्रदाता है — ऐसा मानते हैं), उन्होंने समयसार को नहीं जाना है।

जो, वास्तव में 'मैं श्रमण हूँ, मैं श्रमणोपासक (श्रावक) हूँ' — इस प्रकार द्रव्यलिङ्ग में ममकार द्वारा मिथ्या अहंकार करते हैं, वे 'अनादिरूढ़' (अनादि काल से चले आये) व्यवहार में मूढ़ (मोही) वर्तते हुए, प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय (निश्चयनय) पर अनारूढ़ वर्तते हुए, परमार्थ सत्य (जो परमार्थ-सत्यार्थ है — ऐसे) भगवान समयसार को देखते -अनुभवते नहीं हैं।''

उस पद की प्राप्ति के लिए, जाति आदि विशिष्ट शरीर में निर्ममत्व की सिद्धि के लिए, भोगों से व्यावृत्त होकर (पराङ्मुख होकर) भी, पुनः मोहवश शरीर में ही अनुबन्ध (अनुराग) करता है, वह कहते हैं :—

यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये।
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः॥ ९०॥

यस्य शरीरस्य त्यागाय निर्ममत्वाय भोगेभ्यः स्त्रग्वनितादिभ्यो निवर्तन्ते। तथा यदवाप्तये यस्य परमवीतरागत्वस्यावाप्तये प्राप्तिनिमित्तं भोगेभ्यो निवर्तन्ते। प्रीतिमनुबन्धं तत्रैव शरीरे आबद्धे एव कुर्वन्ति द्वेषं पुनरन्यत्र परमवीतरागत्वे। के ते? मोहिनो मोहवन्तः॥९०॥

बुध तन-त्याग विराग-हित, होते भोग निवृत्त।
मोही उनसे द्वेष कर, रहते भोग प्रवृत्त॥ ९०॥

अन्वयार्थ :- **(यत्त्यागाय)** जिस शरीर के त्याग के लिए, अर्थात् उससे ममत्व दूर करने के लिए और **(यद् अवाप्तये)** जिस परम वीतरागपद को प्राप्त करने के लिए **(भोगेभ्यः)** इन्द्रियों के भोगों से **(निवर्तन्ते)** निवृत्त होते हैं, अर्थात् उनका त्याग करते हैं, **(तत्रैव)** उसी शरीर और इन्द्रियों के विषयों में **(मोहिनः)** मोही जीव, **(प्रीतिं कुर्वन्ति)** प्रीति करते हैं और **(अन्यत्र)** वीतरागता आदि के साधनों में **(द्वेषं कुर्वन्ति)** द्वेष करते हैं।

टीका :- जिस शरीर के त्याग के लिए, अर्थात् उसमें निर्ममत्व के लिए — भोगों से, अर्थात् माला-वनितादि से निवृत्त होते हैं, (पराङ्मुख होते हैं) तथा जिसकी प्राप्ति के लिए, अर्थात् जिस परम वीतरागता की प्राप्ति के लिए, अर्थात् प्राप्ति के निमित्त से भोगों से निवृत्त होते हैं — उसमें ही, अर्थात् इस बद्ध शरीर में ही प्रीति / अनुबन्ध करते हैं और दूसरे, अर्थात् परम वीतरागता पर द्वेष करते हैं। वे कौन? मोही-मोहान्ध जीव॥९०॥

भावार्थ :- *शरीरादि परपदार्थों से ममत्व हटाने के लिए, परम वीतरागपद की प्राप्ति के लिए कितने ही जीव, विषय-भोगों का त्याग करके, संयम का साधन अङ्गीकार करते हैं, परन्तु पुनः मोहवश वे उसी शरीर और विषय-भोगों में प्रीति करते हैं और संयम के साधनों के प्रति द्वेष करते हैं।*

मोह की ऐसी विचित्र लीला है; इसलिए जीव, पुरुषार्थ दृढ़ करके मोह में न फँसे; इसलिए आचार्य का इस श्लोक द्वारा उपदेश है।

तेषां देहे दर्शनव्यापारविपर्यासं दर्शयन्नाह -

अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके।
संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः॥ ९१॥

अनन्तरज्ञो भेदाग्राहकः पुरुषो यथा पंगोर्दृष्टिमन्धके सन्धत्ते आरोपयति। कस्मात् संयोगात् पंग्वन्धयो सम्बन्धमाश्रित्य। तद्वत् तथा देहात्मनोः संयोगादात्मनो दृष्टिमंगेऽपि सन्धत्ते अंगं पश्यतीति (मन्यते) मोहाभिभूतो बहिरात्मा।।९१॥

उसका देह में दर्शन-व्यापार का विपर्यास (विपरीतता) बताकर कहते हैं :—

यथा पंगु की दृष्टि का, करे अन्धे में आरोप।
तथा भेदविज्ञान बिन, तन में आत्मारोप॥ ९१॥

अन्वयार्थ :- **(अनन्तरज्ञः)** भेदज्ञान न रखनेवाला पुरुष **(यथा)** जिस प्रकार **(संयोगात्)** संयोग के कारण, भ्रम में पड़कर संयुक्त हुए लंगड़े और अन्धे की क्रियाओं को ठीक न समझ कर, **(पगोर्दृष्टिं)** लगड़े की दृष्टि को **(अन्धके)** अन्धे पुरुष में **(संधत्ते)** आरोपित करता है-यह समझता है कि अन्धा स्वयं देखकर चल रहा है, **(तद्वत)** उसी प्रकार **(आत्मनः दृष्टिं)** आत्मा की दृष्टि को **(अङ्गेऽपि)** शरीर में भी **(सन्धत्ते)** आरोपित करता है-यह समझने लगता है कि यह शरीर ही देखता-जानता है।

टीका :- जैसे, अन्तर को (भेद को) नहीं जाननेवाला, भेद को ग्रहण नहीं करनेवाला पुरुष, लँगड़े की दृष्टि को अन्ध पुरुष में जोड़ता है, आरोपित करता है। काहे से ? संयोग से, अर्थात् लँगड़े और अन्धे पुरुष के सम्बन्ध का आश्रय करके। इसी तरह देह और आत्मा के संयोग के कारण, आत्मा की दृष्टि को, शरीर में भी आरोपित करता है, अर्थात् मोहाभिभूत बहिरात्मा मानता है कि 'शरीर, देखता है'॥९१॥

भावार्थ :- *शरीर और आत्मा के संयोगसम्बन्ध के कारण, अज्ञानी को भ्रम होता है कि शरीर की क्रिया, जीव करता है — इस बात को आचार्य दृष्टान्त से समझाते हैं। अन्धा, लँगड़े को कन्धे पर बैठाकर मार्ग में जा रहा है। सही मार्ग पर जाने के लिए लँगड़ा, अन्धे को इशारा करता है। लँगड़े-अन्धे दोनों का संयोगरूप जोड़ा है। मार्गगमन में लँगड़े की दृष्टि और अन्धे के पैर काम करते हैं। इन दोनों की संयुक्त गत का भेद नहीं जाननेवाला कोई मन्द दृष्टिवाला*

अन्तरात्मा किं करोतीत्याह -

दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत्।
तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः॥ ९२॥

पुरुष यह समझता है कि यह अन्धा ही सावधानीपूर्वक देखकर चल रहा है परन्तु यह उसका भ्रम है; इसी प्रकार आत्मा और शरीर के संयोग सम्बन्ध का भेद नहीं जाननेवाला बहिरात्मा, शरीर की क्रिया को, आत्मा की क्रिया समझाता है, अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानता है — यह उसका वैसा ही भ्रम है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे, अन्धे की गति में लँगड़े की दृष्टि निमित्तमात्र है, अर्थात् जैसे उस गति और दृष्टि में कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं, परन्तु मात्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है; इसी तरह शरीर की गति का कर्ता, आत्मा नहीं है। किसी समय दोनों के मध्य, मात्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध होता है परन्तु कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं होता। अज्ञानी को संयोगसम्बन्ध के कारण, दोनों के एकपने का भ्रम हो जाता है और इसलिए वह शरीर और आत्मा को एक मानकर, शरीर की क्रिया, जीव करता है — ऐसा मानता है। 'निमित्त होने पर भी, निमित्त से निरपेक्ष उपादान का परिणमन होता है'।[1]

अन्तरात्मा क्या करता है — यह कहते हैं :—

पंगु अन्ध की दृष्टि का, बुधजन जानें भेद।
त्यों तन-आत्मा का करें, ज्ञानी अन्तर छेद॥ ९२॥

अन्वयार्थ :- **(दृष्टभेदः)** जो लँगड़े और अन्धे के भेद का तथा उनकी क्रियाओं को ठीक समझता है, वह **(यथा)** जिस प्रकार **(पंगोर्दृष्टिं)** लँगड़े की दृष्टि को अन्धे पुरुष में **(न योजयेत्)** नहीं जोड़ता-अन्धे को मार्ग देखकर चलनेवाला नहीं मानता। **(तथा)** उसी प्रकार **(दृष्टात्मा)** आत्मा को शरीरादि पर-पदार्थों से भिन्न अनुभव करनेवाला अन्तरात्मा **(आत्मनः दृष्टिं)** आत्मा की दृष्टि को-उसके ज्ञान-दर्शनस्वभाव को, **(देहे)** शरीर में **(न**

---

१. बज्झ कारण निरपेक्खो वत्थु परिणामो। (वस्तु का परिणमन, बाह्य कारण से निरपेक्ष होता है।)
- श्री जयधवल, पृष्ठ-११७, पुस्तक-७

दृष्टभेदः पंग्वन्धयोः प्रतिपन्नभेदः पुरुषो यथा पंगोर्दृष्टिमन्धे न योजयेत्। तथा आत्मनो दृष्टिं देहे न योजयेत्। कोऽसौ ? दृष्टात्मनः देहभेदेन प्रतिपन्नात्मा ॥९२॥

बहिरन्तरात्मनोः काऽवस्था भ्रान्तिः का वाऽभ्रान्तिरित्याह -

योजयेत्) नहीं जोड़ता है-शरीर को ज्ञाता-दृष्टा नहीं मानता है।

टीका :- भेद जाननेवाला, अर्थात् लँगड़े और अन्धे का भेद (अन्तर) जाननेवाला पुरुष; जैसे, लँगड़े की दृष्टि को, अन्धे में नहीं जोड़ता, (आरोपित नहीं करता); इसी प्रकार वह आत्मा की दृष्टि को, देह में आरोपित नहीं करता। वह कौन ? दृष्टात्मा, अर्थात् जिसने देह से भेद करके आत्मा को जाना है, वह (अन्तरात्मा) ॥९२॥

भावार्थ :- *जो अन्धे और लँगड़े का भेद भले प्रकार जानता है, वह दोनों के संयोग के कारण, भ्रम में पड़कर लँगड़े की दृष्टि को अन्धे में आरोपित नहीं करता, अर्थात् अन्धे को दृष्टिहीन और लँगड़े को दृष्टिवान समझता है; इसी तरह भेदज्ञानी अन्तरात्मा, आत्मा और शरीर के सम्बन्ध से भ्रम में पड़कर, कभी भी शरीर में आत्मा की कल्पना नहीं करता, अर्थात् वह शरीर को चेतनारहित जड़ और आत्मा को ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही समझता है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

आत्मा और शरीर का एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध होने पर भी, उपयोगरूप लक्षण से आत्मा पहिचाना जाता है। जैसे, सोने और चाँदी का एकपनेरूप बन्ध होने पर भी, उनके वर्णादि द्वारा उन दोनों को भिन्न-भिन्न परखा जा सकता है, उस तरह।[1]

अन्तरात्मा को शरीर और आत्मा के लक्षणों का भलीभाँति ज्ञान है; इसलिए वह दोनों को एकरूप अथवा एक को दूसरेरूप नहीं मानता।

बहिरात्मा और अन्तरात्मा की कौन-सी अवस्था भ्रान्तिरूप है और कौन-सी अभ्रान्तिरूप है, वह कहते हैं —

---

१. .....तेन बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यप्यात्मा लक्षते।
सुवर्णरजतयो र्बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि वर्णादिर्भेदवत्॥
(श्री सर्वार्थसिद्धि, संस्कृत टीका, अध्याय-२, सूत्र-८)

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः॥ ९३॥

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमः प्रतिभासते। केषाम्? अनात्मदर्शिनां यथावदात्मस्वरूपपरिज्ञानरहितानां बहिरात्मनाम्। आत्मदर्शिनोऽन्तरात्मनः पुनरक्षीणदोषस्य मोहाक्रान्तस्य बहिरात्मनः सम्बन्धिन्यः सर्वावस्थाः सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थावत् जाग्रत्प्रबुद्धानुन्मत्ताद्यवस्थाऽपि विभ्रमः प्रतिभासते यथावद्वस्तुप्रतिभासाभावात्। अथवा सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव एवकारोऽपिशब्दार्थे तेन सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थाऽपि न विभ्रमः केषाम्? आत्मदर्शिनां दृढ़तराभ्यासात्तदवस्थायामपि आत्मनि

निद्रित अरु उन्मत्त को, सब जग माने भ्रान्त।
अन्तर-दृष्टि को दिखे, सब जग मोहाक्रान्त॥ ९३॥

अन्वयार्थ :- **(अनात्मदर्शिनाम्)** आत्मस्वरूप का वास्तविक परिज्ञान जिन्हें नहीं है — ऐसे बहिरात्माओं को **(सुप्तोन्मत्तादि अवस्था एव)** केवल सोने व उन्मत्त होने की अवस्था ही **(विभ्रमः)** भ्रमरूप मालूम होती है किन्तु **(आत्मदर्शिनः)** आत्मानुभवी अन्तरात्मा को, **(अक्षीणदोषस्य)** मोहाक्रान्त बहिरात्मा की **(सर्वावस्थाः)** सर्व ही अवस्थाएँ-सुप्त और उन्मत्तादि अवस्थाओं की तरह, जाग्रत, प्रबुद्ध और अनुन्मत्तादि अवस्थाएँ भी **(विभ्रमः)** भ्रमरूप मालूम होती हैं।

टीका :- सुप्त और उन्मत्तादि अवस्था ही विभ्रमरूप प्रतिभासती है। किसको? आत्मस्वरूप नहीं जाननेवालों को, अर्थात् आत्मस्वरूप के यथार्थ परिज्ञान से रहित बहिरात्माओं को। आत्मदर्शी को, अर्थात् अन्तरात्मा को अक्षीण दोषवाले, अर्थात् जिनके दोष क्षीण नहीं हुए हैं, वैसे मोह से घिरे हुए बहिरात्मा सम्बन्धी की सर्व अवस्थाएँ—जागृत, प्रबुद्ध, अनुन्मत्तादि अवस्था भी, सुप्त, उन्मत्तादि अवस्था की तरह, विभ्रमरूप प्रतिभासती हैं क्योंकि उसको (बहिरात्मा को) यथार्थरूप से वस्तु के प्रतिभास का अभाव है।

अथवा—

सुप्त, उन्मत्तादि अवस्था भी, (यहाँ एव शब्द अपि के अर्थ में है।) विभ्रमरूप (नहीं भासती)। किसकी? आत्मदर्शियों की, क्योंकि दृढ़तर अभ्यास के कारण, उस अवस्था में

तेषामविपर्यासात् स्वरूपसंवित्तिवैकल्यासम्भवाच्च यदि सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मदर्शनं स्यात्तदा जाग्रदवस्थावत्तत्राप्यात्मनः कथं सुप्तादिव्यपदेश इत्यप्ययुक्तम् यतस्तत्रेन्द्रियाणां स्वविषये निद्रया प्रतिबन्धात्तद्व्यपदेशो न पुनरात्मदर्शनप्रतिबन्धादिति। तर्हि कस्याऽसौ विभ्रमो भवति? अक्षीणदोषस्य बहिरात्मनः। कथम्भूतस्य? सर्वावस्थात्मदर्शिनः सर्वावस्थां बालकुमारादिलक्षणां सुप्तोन्मत्तादिरूपां चात्मेति पश्यत्येवं शीलस्य॥९३॥

भी आत्मा के विषय में अविपर्यास (अविपरीतता) होती है और स्वरूप संवेदन में वैकल्य का (च्युति का) अभाव होता है।

यदि सुप्तादि अवस्था में भी आत्मदर्शन हो तो जागृत अवस्था की तरह, उसमें भी आत्मा को सुप्तादि का व्यपदेश (कथन) किस प्रकार घटेगा? इसलिए वह भी अयोग्य हैं।

(समाधान :-) वहाँ निद्रा के कारण, इन्द्रियों को स्वविषय में प्रतिबन्ध है परन्तु वहाँ आत्मदर्शन का प्रतिबन्ध नहीं है; इसलिए उसका व्यपदेश घटित होता है।

तब किसकी वह विभ्रमरूप लगती है? अक्षीण दोषवाले बहिरात्मा की। कैसे (बहिरात्मा को)? सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवाले की, अर्थात् बाल-कुमारादिरूप और सुप्त, उन्मत्तादिरूप सर्व अवस्थाओं को जो आत्मा मानता है, वैसे स्वभाववाले की (बहिरात्मा की)॥९३॥

भावार्थ :- *संस्कृत टीकाकार ने प्रस्तुत श्लोक को निम्नरूप में समझकर दूसरा अर्थ भी किया है :—*

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थापि विभ्रमो नात्मदर्शिनाम्।
विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थात्मदर्शिनः॥ ९३॥

अर्थात्, *आत्मदर्शी पुरुषों की निद्रावस्था और उन्मत्तावस्था भी विभ्रमरूप नहीं होती और सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवालों की (बहिरात्मा की) — जिसके मिथ्यात्वादि दोष क्षीण नहीं हुए, उसको वह (निद्रावस्था और जागृतावस्थादि सर्व अवस्थाएँ) विभ्रमरूप हैं।*

जो आत्मदर्शी अन्तरात्मा है, उसके सुप्तादि अवस्था भी विभ्रम नहीं है, तो जागृतादि अवस्थाएँ तो विभ्रमरूप होंगी ही कैसे? नहीं होती, क्योंकि आत्मस्वरूप के दृढ़तर अभ्यास के कारण उसका ज्ञान, उन अवस्थाओं में आत्मस्वरूप से च्युत नहीं होता। इन्द्रियों की

ननु सर्वावस्थात्मदर्शिनोऽप्यशेषशास्त्रपरिज्ञानान्निद्रारहितस्य मुक्तिभविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह -

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते॥ ९४॥

शिथिलता और रोगादिवश कदाचित् उसको उन्मत्तता भी आ जाए तो भी उसके आत्मानुभवरूप संस्कार नहीं छूटते; बराबर कायम ही रहते हैं परन्तु अज्ञानी बहिरात्मा को बाल, कुमारादिरूप तथा सुप्त, उन्मत्तादिरूप सर्व अवस्थाओं में देहाध्यास / आत्मबुद्धि होने से उसकी सभी क्रियाएँ विभ्रमरूप-मिथ्या हैं।

अन्तरात्मा को निरन्तर ज्ञानचेतना का परिणमन होने से, समस्त अवस्थाओं में सुप्त या जागृत, उन्मत्त या अनुन्मत्त अवस्था में उसकी क्रियाएँ विभ्रमरूप नहीं होतीं, परन्तु बहिरात्मा की सर्व अवस्थाओं में निरन्तर अज्ञानचेतना का परिणमन होने से, उसकी सभी क्रियाएँ विभ्रमरूप-मिथ्या होती हैं।

इस प्रकार बहिरात्मा और अन्तरात्मा की अवस्था में महान अन्तर है। अन्तरात्मा सदा आत्मस्वरूप में जागृत रहता है और बहिरात्मा की दशा इसके विपरीत होती है।

सर्व अवस्थाओं में आत्मा माननेवाले की भी, अशेष (सम्पूर्ण) शास्त्रों के परिज्ञान के कारण, निद्रारहित (जाग्रत) हुए की मुक्ति होगी — ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं:—

हो बहिरातम शास्त्र-पटु, हो जाग्रत, नहीं मुक्त।
निद्रित हो उन्मत्त हो, ज्ञाता कर्म-विमुक्त॥ ९४॥

अन्वयार्थ :- **(देहात्मदृष्टिः)** शरीर में आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा **(विदिताशेषशास्त्रः अपि)** सम्पूर्ण शास्त्रों का जाननेवाला होने पर भी तथा **(जाग्रत् अपि)** जागता हुआ भी **(न मुच्यते)** कर्मबन्धन से नहीं छूटता है किन्तु **(ज्ञातात्मा)** जिसने आत्मा के स्वरूप को देह से भिन्न अनुभव कर लिया है — ऐसा विवेकी अन्तरात्मा **(सुप्तोन्मत्तः अपि)** सोता और उन्मत्त हुआ भी **(मुच्यते)** कर्मबन्धन से मुक्त होता है-विशिष्टरूप से कर्मों की निर्जरा करता है।

टीका :- मुक्त नहीं होता — कर्मरहित नहीं होता। वह कौन? शरीर में आत्मबुद्धि

न मुच्यते न कर्मरहितो भवति। कोऽसौ ? देहात्मदृष्टिर्बहिरात्मा। कथम्भूतोऽपि ? विदिताशेषशास्त्रोऽपि परिज्ञाताशेषशास्त्रोऽपि देहात्मदृष्टिर्यतः देहात्मनोर्भेदरुचिरहितो यतः पुनरपि कथम्भूतोऽपि? जाग्रदपि निद्रयाऽनभिभूतोऽपि। यस्तु ज्ञातात्मा परिज्ञातात्मस्वरूपः स सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते विशिष्टां कर्मनिर्जरां करोति दृढ़तराभ्यासात्सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मस्वरूपसंवित्त्यवैकल्यात् ॥९४॥

रखनेवाला बहिरात्मा। कैसा होने पर भी ? सर्व शास्त्रों का ज्ञाता होकर भी-सर्व शास्त्रों का परिज्ञानवाला होने पर भी, क्योंकि वह देहात्मदृष्टि है, अर्थात् देह और आत्मा के भेद की रुचिरहित है। फिर वह कैसा (होने पर भी) है ? जागृत होने पर भी — निद्रा से अभिभूत (घिरा हुआ) नहीं होने पर भी।

जो ज्ञानात्मा है, अर्थात् जिसने आत्मस्वरूप जाना है, (अनुभवकिया है), वह सुप्त और उन्मत्त होने पर भी, मुक्त होता है — विशिष्ट कर्मनिर्जरा करता है क्योंकि उसको दृढ़तर अभ्यास के कारण, सुप्तादि अवस्था में भी आत्मस्वरूप के संवेदन में वैकल्प (च्युति) नहीं होती ॥९४॥

भावार्थ :- *जिसको शरीर में आत्मबुद्धि है — जो शरीर को ही आत्मा मानता है, अर्थात् शरीर की क्रिया, आत्मा करता है — ऐसा मानता है, वह भले ही समस्त शास्त्रों का ज्ञाता हो और जागृतावस्था में (समान अवस्था में) हो तो भी भेदविज्ञान के अभाव से, उसको मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती परन्तु जिसको शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान है और आत्मस्वरूप के अनुभव का दृढ़तर अभ्यास है, वैसा अन्तरात्मा, निद्रावस्था में अथवा उन्मत्तावस्था में होने पर भी, विशिष्ट प्रकार से कर्मों की निर्जरा करता है क्योंकि उसको निरन्तर ज्ञानचेतना का परिणमन है। यह कर्मनिर्जरा, उसके मुक्ति के कारणरूप होती है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

अज्ञानी जीव को ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व का ज्ञान हो, वह अपने शास्त्रज्ञान से अन्य को मुग्ध करे, प्रशंसा का पात्र बने परन्तु वह आत्मज्ञान शून्य होने से उसका समस्त ज्ञान, आत्महित के लिए कार्यकारी नहीं है; बाधक है। गधे पर लदे हुए शास्त्रों के भार के समान वह ज्ञान, उसको बोझरूप है।

कुतस्तदा तदवैकल्यमित्याह -

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैवे लीयते॥ ९५॥

यत्रैव यस्मिन्नेव विषये आहितधीः दत्तावधाना बुद्धिः। ''यत्रात्महितधीरति च पाठः यत्रात्मनो हितमुपकारस्तत्राहित-धीरिति।'' स हितमुपकारक इति बुद्धिः। कस्य? पुंसः। श्रद्धा रुचिस्तस्य तत्रैव तस्मिन्नेव विषये जायते। यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते आसक्तं भवति॥९५॥

(सुप्तादि अवस्थाओं में भी) वह अवैकल्य (अच्युति) किस कारण से होती है, यह कहते हैं :—

जहाँ बुद्धि हो मग्न वहीं, हो श्रद्धा निष्पन्न।
हो श्रद्धा जिसकी जहाँ, वहीं पर तन्मय मन॥ ९५॥

अन्वयार्थ :- **(यत्र एव)** जहाँ ही — जिस किसी विषय में ही **(पुंसः)** पुरुष को **(आहितधीः)** दत्तावधानरूप बुद्धि होती है **(तत्रैव)** वहीं, अर्थात् उसी विषय में उसे **(श्रद्धा जायते)** श्रद्धा उत्पन्न होती है और **(यत्र एव)** जहाँ ही - अर्थात् जिस विषय में ही **(श्रद्धा जायते)** श्रद्धा उत्पन्न होती है, **(तत्रैव)** वहाँ ही - उस विषय में ही **(चित्तं लीयते)** उसका मन लीन हो जाता है-तन्मय बन जाता है।

टीका :- जहाँ ही, अर्थात् जिस विषय में ही बुद्धि लगती है, अर्थात् बुद्धि दत्तावधानरूप (लग्न) होती है — '*यत्रात्महितधीरिति*' — ऐसा भी पाठ है। (उसका अर्थ यह है कि) जहाँ आत्महित की बुद्धि है, अर्थात् जहाँ आत्मा का हित-उपकार होता है, अर्थात् जहाँ 'वह हितकर-उपकारक है' — ऐसी बुद्धि होती है, वहाँ 'धी', अर्थात् बुद्धि (लगती है)। किसकी? पुरुष की। उसकी श्रद्धा-रुचि वहाँ ही, अर्थात् उस विषय में ही उत्पन्न होती है। जहाँ ही श्रद्धा उत्पन्न होती है, वहाँ ही चित्त लीन होता है-आसक्त होता है॥९५॥

भावार्थ :- *जिस विषय में किसी पुरुष की बुद्धि, सावधानीपूर्वक लगी रहती है, अर्थात् जो विषय उसको हितकर या उपकारक लगता है, उसमें उसको श्रद्धा उत्पन्न होती है और जहाँ श्रद्धा उत्पन्न होती है, वहाँ चित्त लीन हो जाता है। चित्त की यह लीनता ही सुप्त-उन्मत्त*

क्व पुनरनासक्तं चित्तं भवतीत्याह -

यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः॥ ९६॥

अवस्था में भी पुरुष को उस विषय से हटा नहीं सकती, अर्थात् वह पुरुष, उस विषय से च्युत नहीं होता; उसमें लीन रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

भेदविज्ञान द्वारा श्रद्धापूर्वक आत्मस्वरूप के जो संस्कार जाग्रत हुए हैं, उनका बल किसी भी अवस्था में — जागृत, सुप्त अथवा उन्मत्त अवस्था में चालू रहे बिना नहीं रहता; इसलिए आत्मार्थियों को भेदविज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप के संवेदन के लिए आत्मरुचिपूर्वक ऐसा अविरत प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे आत्मश्रद्धा में कोई भी बाह्य परिस्थिति विघ्नरूप नहीं हो अथवा उसको च्युत नहीं करे।

जैसे-जैसे स्व-पर-पदार्थों के भेदविज्ञान द्वारा, आत्मा का उत्तमस्वरूप स्वसंवेदन में विकसित होता जाता है; वैसे-वैसे सहज प्राप्त रमणीय पञ्चेन्द्रिय के विषय भी रुचते नहीं हैं, अर्थात् उनके प्रति उदासीनता और उपेक्षा उत्पन्न होती है।[1]

फिर चित्त कहाँ अनासक्त होता है, वह कहते हैं :—

जहाँ नहीं मति-मग्नता, श्रद्धा का भी लोप।
श्रद्धा बिन कैसे बने, चित्त-स्थिरता योग॥ ९६॥

अन्वयार्थ :- (**यत्र**) जिस विषय में (**पुंसः**) पुरुष की (**अनाहितधीः**) बुद्धि दत्तावधानरूप नहीं होती, (**तस्मात्**) उससे (**श्रद्धा**) श्रद्धा (**निवर्तते**) हट जाती है- उठ जाती है; और (**यस्मात्**) जिससे (**श्रद्धा**) श्रद्धा (**निवर्तते**) हट जाती है, (**चित्तस्य**) चित्त की (**तल्लयः कुतः**) उस विषय में लीनता कैसे हो सकती है? अर्थात्, नहीं होती।

---

१. **यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्। तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि॥**
अर्थात्, जैसे-जैसे उत्तम तत्त्व अनुभव में आता है, वैसे-वैसे सुलभ विषय भी रुचते नहीं, रुचिकर नहीं लगते। *(श्री इष्टोपदेश, श्लोक-३७)*

यत्र यस्मिन्विषये अनाहितधीरदत्तावधाना बुद्धिः। ''यत्रैवाहितधीरति च पाठः यत्र च अहितधीरनुपकारकबुद्धिः।'' कस्य? पुंसः। तस्माद्विषयात्सकाशात् श्रद्धा निवर्तते। यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः तस्मिन् विषये लय आसक्ति-स्तल्लयः कुतो? नैव कुतश्चिदपि॥९६॥

यत्र च चित्तं विलीयते तद्ध्येयं भिन्नमभिन्नं च भवति, तत्र भिन्नात्मनि ध्येये फलमुपदर्शयन्नाह -

---

टीका :- जहाँ, अर्थात् जिस विषय में बुद्धि संलग्न नहीं होती, अर्थात् बुद्धि दत्तावधानरूप नहीं होती? 'यगेवाहितधोरिती' — ऐसा भी पाठ है, उसका अर्थ यह है कि जहाँ अहितबुद्धि, अर्थात् अनुपकारक बुद्धि होती है। किसकी? पुरुष की। उस विषय से श्रद्धा वापस फिरती है। जिससे श्रद्धा वापस फिरती है, उस विषय में चित्त की लीनता कैसे हो सकती है? उस विषय में चित्त का लय, अर्थात् आसक्ति कहाँ से होगी? कहीं से भी नहीं होगी॥९६॥

भावार्थ :- *जिस वस्तु को पुरुष, हितकारी नहीं समझता, उस वस्तु में उसको रुचि उत्पन्न नहीं होती और जिस वस्तु में रुचि नहीं होती, उस वस्तु में उसका मन किस प्रकार लगेगा? नहीं लगेगा।*

अज्ञानी जीवों को इन्द्रियों के विषय इष्ट लगते हैं — हितकारी लगते हैं; इसलिए उनकी रुचि उनमें उत्पन्न होनी है और उनमें मन लगता है; ज्ञानी को वे विषय अनिष्ट नहीं लगते, अपितु उनके प्रति होनेवाला राग, अनिष्ट-अहितकारी लगता है; इसलिए उसकी रुचि उनसे हटती है और उनमें मन नहीं लगता। वह उन विषयों के प्रति उदासीन रहता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

जैसे-जैसे सहज प्राप्त इन्द्रियों के विषयों से रुचि हटती जाती है-घटती जाती है; वैसे -वैसे शुद्ध आत्मस्वरूप, स्वानुभव में आता जाता है, स्वसंवेदन का विषय बनता जाता है।[१]

जिसमें चित्त लीन होता है, वह ध्येय भिन्न तथा अभिन्न (ऐसे दो प्रकार का) होता है, वहाँ

---

१. यथा यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि। तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥

अर्थात्, जैसे-जैसे सुलभ (सहज प्राप्त) इन्द्रिय-विषय भी नहीं रुचते, वैसे-वैसे स्वात्म-संवेदन में उत्तम निजात्म-तत्त्व आता जाता है। *(श्री इष्टोपदेश, श्लोक-३८)*

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी॥ ९७॥

भिन्नात्मानमाराधकात् पृथग्भूतमात्मानमर्हत्सिद्धरूपं उपास्याराध्य आत्मा आराधकः पुरुषः परः परमात्मा भवति तादृशोऽर्हत्सिद्धस्वरूपसदृशः। अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह वर्तिरित्यादि। दीपाद्भिन्ना वर्तिर्यथा दीपमुपास्य प्राप्य तादृशी भवति दीपरूपा भवति॥९७॥

भिन्नात्मस्वरूप ध्येय का फल दर्शाते हुए कहते हैं —

जैसे दीप-संयोग से, वाती बनती दीप।
त्यों परमात्मा ध्यान से, परमात्मा हो जीव॥ ९७॥

अन्वयार्थ :-(**आत्मा**) यह आत्मा (**भिन्नात्मानं**) अपने से भिन्न आत्मा की (**उपास्य**) उपासना करके, (**तादृशः**) उन्हीं के समान (**परः भवति**) परमात्मा होता है; (**यथा**) जैसे, (**भिन्ना वर्तिः**) दीपक से भिन्न बत्ती भी (**दीपं उपास्य**) दीपक की उपासना करके — उसका सामीप्य प्राप्त करके, (**तादृशी**) उसके जैसी - दीपकस्वरूप (**भवति**) हो जाती है।

टीका :- भिन्न आत्मा की, अर्थात् आराधक से पृथक्भूत अरहन्त-सिद्धरूप आत्मा की उपासना करके — आराधना करके; आत्मा, अर्थात् आराधक पुरुष; वैसा, अर्थात् अरहन्त -सिद्धस्वरूप समान; पर, अर्थात् परमात्मा होता है। यहाँ इसी का दृष्टान्त कहते हैं — बत्ती इत्यादि। जैसे, दीपक से भिन्न बत्ती, दीपक की उपासना, अर्थात् पाकर 'तादृश' (उस जैसी) होती है, अर्थात् दीपकरूप होती है; उसी प्रकार॥९७॥

भावार्थ :- *जैसे बत्ती, दीपक की उपासना करके (दीपक का गाढ़-नजदीकी सम्बन्ध साधकर), तद्रूप (दीपकरूप) हो जाती है; इसी तरह यह आत्मा, अपने से भिन्न आत्मा की (अरहन्त-सिद्धरूप परमात्मा की) उपासना करके, स्वयं उनके समान परमात्मा हो जाता है।*

विशेष स्पष्टीकरण -

अरहन्तादि भिन्न साध्य की उपासना द्वारा, अर्थात् उनके द्रव्य-गुण-पर्याय के सत्यज्ञान द्वारा, जो जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को सम्यक्पने जाने और उनकी प्रतीति करे तथा

इदानीमभिन्नात्मनोपासने फलमाह -

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः॥ ९८॥

तत्पश्चात् अरहन्तादि पर की ओर का लक्ष्य भी छोड़कर, स्वसन्मुख होकर, सम्यक्श्रद्धा–ज्ञानपूर्वक अपने चैतन्यस्वरूप में स्थिरता करे तो उसका मोह, नाश को प्राप्त होता है और वह परमात्मा होता है।[1]

आत्मस्वरूप में स्थिरता, वह निश्चयउपासना, अर्थात् अभिन्न साध्य की उपासना है और अरहन्तादि भिन्न साध्य की उपासना, वह व्यवहारउपासना है।

सम्यग्दृष्टि जीव को साधकदशा में अस्थिरता के कारण भगवान की पूजा–भक्ति आदिरूप पुण्यबन्ध की संप्राप्ति के हेतुभूत शुभराग, भूमिकानुसार आता है परन्तु वह उसको आत्महित के लिए भला नहीं मानता। वह राग को रोग के समान जानता है; इसलिए उसको उसमें हेयबुद्धि वर्तती है, अर्थात् उसको राग का राग नहीं है, उसका स्वामित्व नहीं है; उसका वह शुभराग प्रातःकालीन लाल संध्या जैसा है। जैसे, प्रातःकाल की लाल संध्या का अभाव होने पर, तुरन्त ही सूर्य के तेजस्वी प्रकाश का आविर्भाव होता है; इसी तरह सम्यग्दृष्टि के हेयबुद्धि से वर्तते हुए शुभराग का अभाव होने पर, उसका अतिक्रम होने पर, आत्मा के निर्मल प्रचण्ड प्रकाश का आविर्भाव होता है। रागरूप सविकल्पदशा का — (व्यवहार का) अभाव होने पर, वीतरागरूप निर्विकल्पदशा प्रगट होती है। उस दशा में जीव को वचनातीत अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के भिन्न आत्मा की उपासनारूप शुभराग का अभाव, वह मोक्ष का–परमात्मपद का साक्षात् कारण है।

अब, अभिन्न आत्मा की उपासना का फल कहते हैं :—

निज आतम के ध्यान से, स्वयं बने प्रभु आप।
बाँस रगड़ से बाँस में, स्वयं प्रगट हो आग॥ ९८॥

अन्वयार्थः–**(अथवा)** अथवा **(आत्मा)** यह आत्मा **(आत्मानम्)** अपने चित्स्वरूप को ही **(उपास्य)** चिदानन्दमयरूप से आराधन करके, **(परमः)** परमात्मा **(जायते)** हो

१. श्री प्रवचनसार, गाथा–८०

अथवा आत्मानमेव चित्स्वरूपमेव चिदानन्दमयमुपास्य आत्मा परमः परमात्मा जायते। अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राहमथित्वेत्यादि। यथाऽऽत्मानमेव मथित्वा घर्षयित्वा तरुरात्मा तरुरूपः स्वभावः स्वतएवाग्निर्जायते॥९८॥

जाता है, **(यथा)** जैसे, **(तरुः)** बाँस का वृक्ष **(आत्मानं)** अपने को **(आत्मैव)** अपने से ही **(मथित्वा)** रगड़कर, **(अग्निः)** अग्निरूप **(जायते)** हो जाता है।

टीका :– अथवा आत्मा की ही, अर्थात् चिदानन्दमय चित्स्वरूप की ही उपासना करके, आत्मा, परम अर्थात् परमात्मा होता है। इसी अर्थ का समर्थन दृष्टान्त द्वारा करके कहते हैं :— '**रगड़कर इत्यादि**' — जैसे, अपने आप ही मथकर (रगड़कर) घिसकर, वृक्ष, अर्थात् वृक्षरूप स्वभाव स्वतः ही अग्निरूप होता है; इसी तरह आत्मा, आत्मा को ही मथकर — उपासित कर, परमात्मारूप होता है॥९८॥

भावार्थ :– *जैसे, बाँस का वृक्ष, बाँस के साथ रगड़कर (मथकर) स्वयं अग्निरूप हो जाता है; इसी तरह आत्मा भी अपने चिदानन्दमय चित्स्वरूप की उपासना करके, स्वयं परमात्मारूप हो जाता है।*

जैसे, बाँस के वृक्ष में अग्नि शक्तिरूप से विद्यमान है और वह घर्षण से प्रगट होती है; इसी तरह आत्मा में भी पूर्ण ज्ञानादि गुण, शक्तिरूप से विद्यमान हैं और वे आत्मा की आत्मा के साथ एकरूपता होने पर प्रगट होते हैं, अर्थात् आत्मा अन्य बाह्याभ्यन्तर सङ्कल्प –विकल्परूप व्यापारों से अपने उपयोग को हटाकर, स्वरूप में एकाग्र कर देता है, तब उसके वे गुण (शुद्धपर्यायें) प्रगट होते हैं। आत्मा का, आत्मा के साथ संघर्ष (एकाग्रता) से, ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है; जब उसके निमित्त से कर्मरूपी ईंधन सर्वथा जल जाता है, तब वह आत्मा, परमात्मा हो जाता है।

विशेष स्पष्टीकरण –

जब सम्यग्दृष्टि, आत्मध्यान में मग्न हो जाता है, तब ध्यान, ध्याता और ध्येय — ऐसा भेद नहीं रहता; वचन अथवा अन्य विकल्प नहीं होता। वहाँ (आत्मध्यान में) वह आत्मा ही कर्म, आत्मा ही कर्ता और आत्मा का भाव, वह क्रिया होते हैं, अर्थात् कर्ता, कर्म और क्रिया — ये तीनों अत्यन्त अखण्ड अभिन्न हो जाते हैं, शुद्धोपयोग की निश्चलदशा प्रगट

उक्तमर्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्नाह -

इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः॥ ९९॥

इति एवमुक्तप्रकारेण इदं भिन्नमभिन्नं चात्मस्वरूपं भावयेत् नित्यं सर्वदा।

हो जाती है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी एक साथ एकरूप होकर प्रकाशित होते हैं।[१]

इस श्लोक में आचार्यदेव ने यह बताया है कि यदि जीव, अपने आत्मा को शुद्ध चैतन्यस्वरूप समझकर, अरहन्तादि की उपासना के राग से परान्मुख होकर, स्वसन्मुख होकर अपने शुद्धात्मा की-परमपारिणामिक कारणपरमात्मा की ही उपासना करे तो वह स्वयं परमात्मा हो सकता है। द्रव्यदृष्टि से प्रत्येक जीव में परमात्मा होने की शक्ति है। यदि वह जिनोपदेशानुसार पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करे तो उस शक्ति को सम्पूर्णरूप से व्यक्त करके परमात्मा हो सकता है।

उक्त अर्थ का उपसंहार करके, फल दर्शाकर कहते हैं :—

भेदाभेद स्वरूप का, सतत चले अभ्यास।
मिले अवाची पद स्वयं, प्रत्यावर्तन नाश॥ ९९॥

अन्वयार्थ :-(**इति**) उक्त प्रकार से (**इदं**) भेद-अभेदरूप आत्मस्वरूप की (**नित्यं**) निरन्तर (**भावयेत्**) भावना करनी चाहिए — ऐसा करने से (**तत्**) उस (**अवाचांगोचरं पदं**) अनिर्वचनीय परमात्मपद को (**स्वत एव**) स्वयं ही यह जीव (**आप्नोति**) प्राप्त करता है (**यतः**), जिस पद से (**पुनः**) फिर (**न आवर्तते**) वापस नहीं आता — पुनर्जन्म लेकर संसार में भ्रमण करना नहीं पड़ता।

टीका :- इस प्रकार से, अर्थात् उक्त प्रकार से इस भिन्न और अभिन्न आत्मस्वरूप की, नित्य, अर्थात् सर्वदा भावना करनी। इससे क्या होता है ? वह पद — मोक्षस्थान (प्राप्त होता

---

१. जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय को, न विकल्प वच भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न, सुध उपयोग की निश्चलदशा।
प्रागटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत, ये तीनधा एके लसा॥ *(छहढाला, पण्डित दौलतरामजी, ६/९)*

ततः किं भवति ? तत्पदं अवाप्नोति। किं तत्पदं मोक्षस्थानं। कथम्भूतं ? अवाचांगोचरं वचनैरनिर्देश्यं। कथं तत्प्राप्नोति ? स्वत एव आत्मनैव परमार्थतो न पुनगुर्वादिबाह्य-निमित्तात्। यतः प्राप्तात् तत्पदान्नावर्तते संसारे पुनर्न भ्रमति॥९९॥

है)। वह (पद) कैसा है ? वाणी के अगोचर है, अर्थात् वचनों द्वारा नहीं कहा जा सके, वैसा (अनिर्वचनीय) है। उसे किस प्रकार प्राप्त करता है ? परमार्थ से स्वतः ही (अपने आप ही), आत्मा से ही (प्राप्त करता है) परन्तु गुरु आदि बाह्य निमित्त द्वारा नहीं। जहाँ से, अर्थात् प्राप्त हुए उस पद से (मोक्षस्थान से) वह वापस नहीं आता, अर्थात् फिर से संसार में नहीं भ्रमता॥९९॥

भावार्थ :– *साधक को निर्विकल्पदशा में अपने आत्मा का आश्रय और सविकल्पदशा में अरहन्तादि को उपासनादि होती है। क्रम–क्रम से आत्मा का आश्रय बढ़ता जाता है और भगवान की उपासनादिरूप व्यवहार घटता जाता है। अपने आत्मा की उपासना पूर्ण होने पर, भगवान की उपासनारूप विकल्प का भी अभाव होता है; इसका नाम भिन्न और अभिन्न आत्मस्वरूप की नित्य भावना करना कहा जाता है। इस प्रकार वीतरागता पूर्ण होने पर जीव, केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है और मोक्षस्थान प्राप्त करने के बाद, जीव कभी वापस संसार में नहीं आता क्योंकि उसके राग का सर्वथा अभाव वर्तता है। राग के बिना संसार, अर्थात् भव–भ्रमण / जन्म–मरण नहीं होता।*

विशेष स्पष्टीकरण –

जिन्होंने आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए आत्मा का पूर्ण विकास साधा है, उन अरहन्त और सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर, तद्रूप होने की भावना में मग्न रहना और फिर अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होने का सदा दृढ़ अभ्यास करना। ऐसा करने से वचनातीत अतीन्द्रिय परमात्मपद की प्राप्ति होती है। वह पद प्राप्त करने के बाद, संसार में पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता। सदा के लिए संसार के सर्व दुःखों से जीव का छुटकारा होता है और वह सदा ज्ञानानन्द में मग्न रहता है।

प्रस्तुत श्लोक में 'स्वतः एव' शब्द बहुत अर्थसूचक है। वह बताता है कि परमात्मपद की प्राप्ति अपने में से ही, अपने पुरुषार्थ से ही होती है। उसमें तीर्थंकर भगवान आदि की

नन्वात्मनि सिद्धे तस्य तत्पदप्राप्तिः स्यात्। न चासौ तत्त्वचतुष्टयात्मकाच्छरीरा-त्तत्त्वान्तरभूतः सिद्ध इति चार्वाकाः। सदैवात्मा मुक्तः सर्वदा स्वरूपोपलम्भसम्भवादिति सांख्यास्तान् प्रत्याह -

अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि।
अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित्॥ १००॥

चित्तत्त्वं चेतनालक्षणं तत्त्वं यदि भूतजं पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतेभ्यो जातं

उपासना, दिव्यध्वनि, गुरु का उपदेश आदि बाह्यनिमित्त होने पर भी, निमित्तों से निरपेक्षपने परमपद की प्राप्ति होती है; निमित्तों से कभी नहीं होती क्योंकि जहाँ तक निमित्तों की ओर लक्ष्य होता है, वहाँ तक आत्मा की ओर लक्ष्य नहीं जाता।

परमात्मा होने की शक्ति अपने में ही विद्यमान है; उस शक्ति का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान-ज्ञान करके, आत्मसन्मुख होकर, उसे प्रगट करने का अविरत प्रयत्न किया जाए तो अवश्य परमपद की प्राप्ति होती है।

आत्मा है — ऐसा सिद्ध हो तो उसे उस पद की प्राप्ति सम्भव है परन्तु वह आत्मा चार तत्त्वों के समूहरूप शरीर से भिन्न, अन्य तत्स्वरूप सिद्ध नहीं होता — ऐसा चार्वाक मानते हैं और सर्वदा स्वरूप की उपलब्धि का सम्भव होने से, आत्मा सदा ही मुक्त है — ऐसा सांख्यमत है। उनके प्रति कहते हैं :—

पञ्चभूत से चेतना, यत्न-साध्य नहीं मोक्ष।
योगी को अतएव नहीं, कहीं कष्ट का योग॥ १००॥

अन्वयार्थ :- (**चित्तत्वं**) चेतना लक्षणवाला, यह जीवतत्त्व (**यदि भूतजं**) यदि भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुआ हो तो (**निर्वाणं**) मोक्ष (**अयत्नसाध्यं**) यत्न से साधने योग्य नहीं रहे (**अन्यथा**) अथवा (**योगतः**) योग से, अर्थात् शारीरिक योगक्रिया से (**निर्वाणं**) निर्वाण की प्राप्ति हो तो (**तस्मात्**) उससे (**योगिनः**) योगियों को (**क्वचित्**) किसी भी अवस्था में (**दुःखं न**) दुःख नहीं हो।

टीका :- चितत्त्व, अर्थात् चेतनास्वरूप तत्त्व यदि भूत ही हों, अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायुरूप भूतों में से उत्पन्न हुआ मानने में आवे तो निर्वाण अयत्न साध्य रहे

यद्यभ्युपगम्यते तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन तात्पर्येण साध्यं निर्वाणं न भवति। एतच्छरीरपरित्यागेन विशिष्टावस्थाप्राप्तियोगस्यात्मन एव तन्मत्ते अभावादित्यात्मनो मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावः। सांख्यमते तु भूतजं सहजं भवनं भूतं शुद्धात्मतत्त्वं तत्र जातं तत्स्वरूप संवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन ध्यानानुष्ठानादिना साध्यं न भवति निर्वाणं। सता शुद्धात्मस्वरूपानुभवे सर्वदैवात्मनो निरुपायमुक्तिप्रसिद्धेः अथवा निष्पन्नेतरयोग्यपेक्षया अयत्नेत्यादिवचनम्। तत्र निष्पन्नयोग्यपेक्षया चित्तत्त्वं भूतजं स्वभावजं। भूतशब्दोऽत्र स्वभाववाची। मनोवाक्कायेन्द्रियैरविक्षिप्तमात्मस्वरूपं भूतं तस्मिन् जातं तत्स्वरूपसंवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं तथाविधमात्मस्वरूपमनुभवतः कर्मबंधाभावतो निर्वाणस्याप्रयाससिद्धत्वात्। अथवा अन्यथा

अथवा यत्न से निर्वाण साधने योग्य न रहे। इस शरीर के परित्याग से, विशिष्ट अवस्था की प्राप्ति–योग्य आत्मा का उनके मत में (चार्वाक के मत में) अभाव है क्योंकि (वे) मरणरूप (शरीर के) विनाश से उत्तरकाल में आत्मा का अभाव (मानते) हैं।

'सांख्यमत में भूत ही, अर्थात् सहज भवन सो भूत / शुद्धात्मतत्त्व — उसमें उत्पन्न हुआ, वह। उसके स्वरूप के संवेदकपने से जिसका आत्मलाभ प्राप्त हुआ है — ऐसे प्रकार का चितत्त्व यदि हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य हो, अर्थात् यत्न से / ध्यान के अनुष्ठानादि से निर्वाण साधने योग्य नहीं रहता, क्योंकि नित्य शुद्धात्मस्वरूप के अनुभव में सर्वदा ही आत्मा की निरुपाय (अयत्नसाध्य) मुक्ति प्रसिद्ध है।

अथवा (इस श्लोक में) अयत्न इत्यादि वचन हैं, वे निष्पन्न इतर योगियों की अपेक्षा से हैं। वहाँ निष्पन्न योगी की अपेक्षा से चितत्त्व यदि भूत हो, अर्थात् स्वभाव ही हो, (यहाँ भूत शब्द को स्वभाव के अर्थ में समझना) अर्थात् मन, वाणी, काया, इन्द्रियों आदि से अविक्षिप्त आत्मस्वरूपभूत, अर्थात् उसमें उत्पन्न हुआ हो, अर्थात् उसके स्वरूप के संवेदकपने से जिसका आत्मलाभ प्राप्त हुआ है — ऐसे प्रकार का चितत्त्व यदि हो तो निर्वाण अयत्नसाध्य है, क्योंकि वैसे प्रकार के आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले के कर्मबन्ध का अभाव होने से, निर्वाण बिना प्रयास के सिद्ध है।

अथवा अन्य प्रकार से प्रारब्ध योगी की अपेक्षा से भूत ही चितत्त्व न हो तो, योग द्वारा

प्रारब्धयोग्यपेक्षया भूतजं चित्तत्वं न भवति। तदा योगतः स्वरूपसंवेदनात्मकचित्त-वृत्तिनिरोधाभ्यासप्रकर्षान्निर्वाणं। यत एवं तस्मात् क्वचिदप्यवस्थाविशेषे दुर्धरानुष्ठाने छेदनभेदनादौ वा योगिनां दुःखं न भवति। आनन्दात्मकस्वरूपसंवित्तौ तेषां तत्प्रभवदुःखसंवेदनासम्भवात् ॥१०० ॥

स्वरूप संवेदनात्मक चित्तवृत्ति के निरोध के प्रकर्ष अभ्यास से निर्वाण होता है; इसलिए क्वचित् भी अवस्था विशेष में, अर्थात् दुर्धर अनुष्ठान में अथवा छेदन-भेदनादि में योगियों को दुःख नहीं होता क्योंकि आनन्दात्मक स्वरूप के संवेदन में उनको उनसे उत्पन्न होते दुःख के वेदन का अभाव है ॥१०० ॥

भावार्थ :- *चार्वाक मतानुसार जीवतत्त्व, भूत ही है, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु — इस भूत चतुष्टय से उत्पन्न होता है। यदि भूत चतुष्टय से उत्पन्न हुए शरीर को ही आत्मा माना जाए तो शरीर के नाश को ही मोक्ष मानने का प्रसङ्ग आये और इससे मोक्ष अयत्न साध्य रहे, अर्थात् निर्वाण के लिए अन्य किसी पुरुषार्थ की आवश्यकता न रहे; इसलिए शरीर का नाश होने पर, आत्मा का अभाव मानना और आत्मा के अभाव को मोक्ष मानना — ऐसी चार्वाक की जीवात्मा सम्बन्धी कल्पना भ्रममूलक-मिथ्या है।*

'सांख्यमतानुसार' आत्मा ही भूत, अर्थात् सर्वथा स्वभावसिद्ध शुद्धस्वरूप ही है, वे उसको सर्व अवस्थाओं में शुद्ध ही मानते हैं। निर्वाण के लिए सम्यग्ज्ञान, ध्यान, तपादिरूप पुरुषार्थ की उनको आवश्यकता नहीं; उनके मत से मोक्ष अयत्नसाध्य है; इसलिए सांख्य की कल्पना भी युक्तिसङ्गत नहीं है।

'जैनमतानुसार' स्वरूपसंवेदनात्मक चित्तवृत्ति के (विभाववृत्ति के) निरोध के दृढ़ अभ्यास द्वारा, सर्व विभावपरिणति को हटाकर, शुद्धात्मस्वरूप में स्थिरतारूप निर्वाण 'यत्नसाध्य' है और वैसे प्रकार के आत्मस्वरूप का अनुभव करनेवाले को स्वयं कर्म का अभाव होने से, निर्वाण की सिद्धि, कर्म अपेक्षा से प्रयत्न बिना, अर्थात् 'अयत्नसाध्य' होती है क्योंकि कर्म, पुद्गल है; जीव उनकी अवस्था नहीं कर सकता; इसलिए उनके अभाव के लिए जीव को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

योगीजनों को अति उग्रतप व ध्यानादि करते समय किसी भी प्रकार का खेद अथवा

नन्वात्मना मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावसिद्धेः कथं सर्वदाऽस्तित्वं सिध्येदिति वदन्तं प्रत्याह -

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः।
तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः॥ १०१॥

स्वप्ने स्वप्नावस्थायां दृष्टे विनष्टेऽपि शरीरादौ आत्मनो यथा नाशो नास्ति तथा जागरदृष्टेऽपि जागरे जाग्रदवस्थायां दृष्टे विनष्टेऽपि शरीरादौ आत्मनो नाशो नास्ति। ननु स्वप्नावस्थायां भ्रांतिविशादात्मनो विनाशः प्रतिभातीति चेत्तदेतदन्यत्रापि समानं।

दुःख नहीं होता परन्तु अपने लक्ष्य की सिद्धि होती देख, तप-ध्यानादि करने में आनन्द मानते हैं। वे शरीर को आत्मा से भिन्न समझते हैं; इसलिए शरीर कृश होने पर वे खेद-खिन्न नहीं होते तथा उपसर्ग के समय अपने साम्यभाव की स्थिरता को नहीं छोड़ते। कहा भी है कि —

'जैसे सुवर्ण, अग्नि से तपाये जाने पर भी अपने सुवर्णपने को नहीं छोड़ता; इसी तरह ज्ञानी, कर्म के उदय से तप्त होने पर भी, वह अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता।[१]'

मरणरूप विनाश से उत्तरकाल में (विनाश के पश्चात्) आत्मा का अभाव सिद्ध होवे तो उसका सर्वदा अस्तित्व किस प्रकार सिद्ध हो? ऐसा कहनेवाले के प्रति कहते हैं :—

देह-नाश के स्वप्न में, यथा न निज का नाश।
जागृत देह-वियोग में, तथा आत्म अविनाश॥ १०१॥

अन्वयार्थ :- **(स्वप्ने)** स्वप्न की अवस्था में **(दृष्टे विनष्टे अपि)** प्रत्यक्ष देखे जानेवाले शरीरादिक के विनाश होने पर भी, **(यथा)** जिस प्रकार **(आत्मनः)** आत्मा का **(नाशः न अस्ति)** नाश नहीं होता है; **(तथा)** उसी प्रकार **(जागरदृष्टे अपि)** जाग्रत अवस्था में भी दृष्ट शरीरादिक का विनाश होने पर भी, आत्मा का नाश नहीं होता है **(विपर्यासाविशेषतः)** क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में विपरीत प्रतिभास में कोई अन्तर नहीं है।

टीका :- स्वप्न में, अर्थात् स्वप्न-अवस्था में देखने में आए हुए शरीरादि का नाश होने पर भी जैसे, आत्मा का नाश नहीं होता; इसी तरह जागृत-अवस्था में भी देखने में आते हुए शरीरादि का नाश होने पर भी, आत्मा का नाश नहीं होता।

---

१. श्री समयसार, गाथा-१८४

न खलु शरीरविनाशे आत्मनो विनाशमभ्रांतो मन्यते। तस्मादुभयत्राप्यात्मनो विनाशोऽनुपपन्नो विपर्यासाविशेषात्। यथैव हि स्वप्नावस्थायामविद्यमानेऽप्यात्मनो विनाशे विनाशः प्रतिभासत इति विपर्यासः तथा जाग्रदवस्थायामपि॥१०१॥

स्वप्न-अवस्था में भ्रान्ति के कारण, आत्मा का विनाश प्रतिभासित होता है — ऐसी शङ्का की जावे तो अन्यत्र भी (जागृत-अवस्था में भी) वह समान है। भ्रान्तिरहित मनुष्य, शरीर का विनाश होने पर, आत्मा का विनाश वास्तव में नहीं मानता; इसलिए दोनों में (स्वप्न-अवस्था में और जागृत-अवस्था में) भी विपर्यास में (भ्रान्ति में) अन्तर नहीं होने से (भ्रान्ति, समान होने से) आत्मा का विनाश नहीं होने पर भी, (उसका) विनाश प्रतिभासित होता है; उसी प्रकार ऐसी भ्रान्ति जागृत-अवस्था में भी होती है॥१०१॥

भावार्थ :- *स्वप्न में शरीर का नाश देखने पर भी, आत्मा का नाश नहीं होता, तो भी आत्मा के नाश का भ्रम (विपरीत प्रतिभास) होता है; इसी तरह जागृत-अवस्था में भी शरीर का विनाश देखने पर भी, आत्मा के विनाश का भ्रम होता है; दोनों अवस्थाओं में जो भ्रम होता है, वह समान है; उसमें कोई अन्तर नहीं है।*

परमार्थदृष्टि से देखा जाए तो स्वप्न में मनुष्य के शरीर का और उनके आत्मा का नाश नहीं होता; इसी तरह जागृत-अवस्था में भी मरण से मनुष्य के शरीर का और उसमें रहनेवाले आत्मा का नाश नहीं होता क्योंकि प्रत्येक द्रव्य सत् है। सत् का नाश कभी नहीं होता; मात्र उसकी पर्याय में परिवर्तन होता है। एक पर्याय का व्यय, दूसरी पर्याय का उत्पाद और उन दोनों में द्रव्य का ध्रौव्यरूप से कायम रहना — ऐसी वस्तुस्थिति है।

विशेष स्पष्टीकरण -

आत्मा, एक चेतन, अमूर्तिक, अविनाशी पदार्थ है। उसके विनाश की कल्पना करना, वह नितान्त भ्रम है। संसार-अवस्था में शरीर के साथ आत्मा का परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग सम्बन्ध है परन्तु अज्ञानी को उन दोनों का भेदविज्ञान नहीं होने से, दोनों को एकरूप मानता है; इसलिए शरीररूप पुद्गलपर्याय का व्यय देखकर, उसमें संयोगरूप से रहनेवाले आत्मा का भी, भ्रम से विनाश मानता है परन्तु जैसे, झोपड़ी के जल जाने पर उसमें स्थित आकाश नहीं जल जाता; इसी तरह शरीर का नाश होने पर, उसमें स्थित आत्मा का नाश नहीं होता।

नन्वेवं प्रसिद्धस्याप्यनाद्यनिधनस्यात्मनो मुक्त्यर्थं दुर्द्धरानुष्ठानक्लेशो व्यर्थो ज्ञानभावनामात्रेणैव मुक्तिसिद्धेरित्याशङ्क्याह -

***अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।**
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥ १०२ ॥

अदुःखेन कायक्लेशादिकष्टं विना सुकुमारोपक्रमेण भावितमेकाग्रतया चेतसि पुनः पुनः संचिन्तितं ज्ञानं शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपपरिज्ञानं क्षीयते अपकृष्यते।

अनादि-निधन आत्मा प्रसिद्ध होने पर भी, उसकी मुक्ति के लिए दुर्द्धर तपश्चरणरूप क्लेश करना व्यर्थ है क्योंकि ज्ञानभावनामात्र से ही मुक्ति की सिद्धि है — ऐसी आशङ्का करके कहते हैं :—

दुःख-सन्निधि में नहीं टिके, अदुःख भावित ज्ञान।
दृढ़तर भेद-विज्ञान का, अतः नहीं अवसान॥ १०२ ॥

अन्वयार्थ :- **(अदुःखभावितं ज्ञानं)** जो ज्ञान अदुःख-सुख में भाया जाता है, वह **(दुःखसन्निधौ)** उपसर्गादिक दुःखों के उपस्थित होने पर **(क्षीयते)** नष्ट हो जाता है। **(तस्मात्)** इसलिए **(मुनिः)** मुनि को — अन्तरात्मा योगी को **(यथाबलं)** अपनी शक्ति के अनुसार **(दुःखैः)** कायक्लेशादिरूप दुःखों से **(आत्मानं भावयेत्)** आत्मा की शरीरादि से भिन्न भावना करनी चाहिए।

टीका :- दुःख बिना, अर्थात् कायक्लेशादि के कष्ट बिना, सुकुमार उपक्रम से भाने में आया हुआ, अर्थात् एकाग्रता से मन में बारम्बार चिन्तन किया हुआ ज्ञान, अर्थात् शरीरादि से भिन्न आत्मस्वरूप का परिज्ञान, क्षय पाता है — क्षीण होता है। कब ? दुःख की सन्निधि में (उपस्थिति में)-दुःख आ पड़ने पर। इसलिए यथाशक्ति, अर्थात् अपनी शक्ति का उल्लंघन

---

* **सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि। तम्हा जहाबल जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए॥**

अर्थात्, सुख से भाया हुआ ज्ञान है, वह उपसर्ग-परिषहादि के द्वारा दुःख उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है; इसलिए यह उपदेश है कि जो योगी ध्यानी मुनि है, वह तपश्चरणादि के कष्ट (दुःख) सहित आत्मा को भावे। [अर्थात्, बाह्य में जरा भी अनुकूल-प्रतिकूल न मानकर, निज आत्मा में ही एकाग्रतारूपी भावना करे, जिससे आत्मशक्ति और आत्मिक आनन्द का प्रचुर संवेदन बढ़ता ही है।]

(श्री मोक्षप्राभृत, गाथा-६२, श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव)

कस्मिन्? दुःखसन्निधौ दुःखोपनिपाते सति। यत एवं तस्मात्कारणात् यथाबलं स्वशक्त्यनतिक्रमेण मुनिर्योगी आत्मानं दुःखैर्भावयेत् कायक्लेशादिकष्टैः सहाऽऽत्म-स्वरूपं भावयेत्। कष्टसहोभवन् आत्मस्वरूपं चिन्तयेदित्यर्थः ॥१०२॥

ननु यद्यात्मा शरीरात्सर्वथा भिन्नस्तदा कथमात्मनि चलति नियमेन तच्चलेत् तिष्ठति नियमेन तत् तिष्ठेदिति वदन्तं प्रत्याह -

प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात्।
वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु॥ १०३॥

किए बिना, मुनि को-योगी को दुःख से आत्मा की भावना भाना, अर्थात् कायक्लेशादिरूप कष्टों से, आत्मस्वरूप की भावना करना — कष्ट सहकर, सदा आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना — ऐसा अर्थ है ॥१०२॥

भावार्थ :- *जिनको शरीरादि की अनुकूलता में व साताशीलपने में ज्ञानभावना करने की आदत पड़ी है, उनको उपसर्गादिक आने पर, ज्ञानभावना अचल नहीं रह सकती क्योंकि वे भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि की थोड़ी भी बाधा सहन नहीं कर सकते। वे न जीने (मरण) की शङ्का आ पड़ने पर घबरा जाते हैं और ज्ञानभावना से चलित हो जाते हैं; इसलिए आचार्यदेव ने इस श्लोक में कहा है कि ज्ञानभावना के अभ्यासी को उचित है कि वह अनेक कष्ट सहन करने की ऐसी आदत डाले कि कष्ट आ पड़े तो भी वह ज्ञानभावना से चलायमान न हो।*

यदि आत्मा, शरीर से सर्वथा भिन्न होवे तो उसके चलने से शरीर नियम से क्यों चलता है और उसके खड़े रहने से वह (शरीर) नियम से क्यों खड़ा रहता है? — ऐसी शङ्का करनेवाले के प्रति कहते हैं :—

राग-द्वेष के यत्न से, हो वायु सञ्चार।
वायु है तनयन्त्र की, सञ्चालन आधार॥ १०३॥

अन्वयार्थ :- **(आत्मनः)** आत्मा के **(इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् प्रयत्नात्)** राग और द्वेष की प्रवृत्ति से होनेवाले प्रयत्न से **(वायुः)** वायु उत्पन्न होती है-वायु का संचार होता है, **(वायोः)** वायु के संचार से **(शरीरयंत्राणि)** शरीररूपी यन्त्र, **(स्वेषु कर्मसु)** अपने -अपने कार्य करने में **(वर्तन्ते)** प्रवृत्त होते हैं।

आत्मनः सम्बन्धिनः प्रयत्नाद्वायुः शरीरे समुच्चलति कथम्भूतात् प्रयत्नात् ? इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् रागद्वेषाभ्यां जनितात्। तत्र समुच्चलिताच्च वायोः शरीरयंत्राणि शरीराण्येव यंत्राणि। किं पुनः शरीराणां यंत्रैः साधर्म्यं यस्तानि यन्त्राणीत्युच्यन्ते? इति चेत् उच्यते यथा यंत्राणि काष्ठादिविनिर्मितसिंहव्याघ्रादीनि स्वसाध्यविविधक्रियायां परप्रेरितानि प्रवर्तन्ते तथा शरीराण्यपीत्युभयोस्तुल्यता। तानि शरीरयंत्राणि वायोः सकाशाद्वर्तन्ते। केषु? कर्मसु क्रियासु कथम्भूतेषु? स्वेषु स्वसाध्येषु॥१०३॥

टीका :– आत्मा के प्रयत्न से वायु का शरीर में सञ्चार होता है। कैसे प्रयत्न से? इच्छा – द्वेष से प्रवर्तते हुए–राग–द्वेष से उत्पन्न हुए (प्रयत्न से)। उसमें (शरीर में) सञ्चारित वायु से शरीरयन्त्र — शरीर, वही यन्त्र, वे शरीरयन्त्र (स्वकार्य में प्रवर्तते हैं।)

क्या शरीरों को यन्त्रों के साथ समान धर्म है कि जिससे वे (शरीर) यन्त्र कहलाते हैं? ऐसा पूछो तो कहना है कि जैसे, लकड़ी आदि से बने हुए सिंह–व्याघ्रादि यन्त्र परप्रेरित होकर अपने–अपने साधनेयोग्य विविध क्रियाओं में प्रवर्तते हैं; इसी प्रकार शरीर भी (प्रवर्तते हैं)। इस प्रकार दोनों में (शरीर और यन्त्रों में) समानता है। वे शरीरयन्त्र वायु द्वारा प्रवर्तते हैं। किसमें? कार्यों में–क्रियाओं में। कैसे कार्यों में? अपने–अपने साधनेयोग्य कार्यों में॥१०३॥

भावार्थ :– *जब जीव को शरीर की क्रिया करने की इच्छा होती है, तब उसके (इच्छा के) निमित्त से, वायु अपनी योग्यता से शरीर में उत्पन्न होती है। उस वायु के संचार के निमित्त से शरीरयन्त्र, अर्थात् शरीर की क्रियाएँ अपनी–अपनी योग्यता से अपना काम करती हैं।*

इस प्रकार जीव की इच्छा और शरीर की क्रिया के सीधा निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध नहीं है, परन्तु जीव की इच्छा और वायु के निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध हैं और वायु तथा शरीर की क्रिया के निमित्त–नैमित्तिकसम्बन्ध हैं।

विशेष स्पष्टीकरण –

स्थूलदृष्टि से (व्यवहारनय से) जीव की इच्छा से शरीर चलता है — ऐसा कहा जाता है, इसका अर्थ यह है कि जीव की इच्छा अथवा वायु से शरीर की क्रियाएँ वास्तव में नहीं होतीं, परन्तु निमित्त का ज्ञान कराने के लिए उपचार से ऐसा कहा जाता है।

योग, (अर्थात् मन-वचन-काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों का चलन) और उपयोग (अशुद्ध उपयोग — ज्ञान का कषायों के साथ जुड़ना) — इन दोनों का कर्ता तो आत्मा कदाचित् भले हो, तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता तो वह निमित्तरूप से भी कभी नहीं है। अज्ञान-अवस्था में ही आत्मा को योग-उपयोग का कर्ता कहा जा सकता है, परन्तु शरीरादि परद्रव्यों का कर्ता तो वह निमित्तरूप भी कभी नहीं है।

इससे ऐसा समझना कि यदि जीव, वास्तव में पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं है, तो शरीरादि की किसी क्रिया का कर्ता वह कैसे हो सकता है? जरा भी नहीं, परन्तु अज्ञानदशा में जीव का योग और उपयोग, शरीर की क्रिया में निमित्त होता है।

द्रव्यदृष्टि से तो 'कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का कर्ता नहीं है', परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य की पर्याय, किसी समय, किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को निमित्त होती है; इसलिए इस अपेक्षा से एक द्रव्य के परिणाम, अन्य द्रव्य के परिणाम का निमित्तकर्ता कहलाता है। परमार्थ से द्रव्य, अपने ही परिणाम का (शुद्ध-अशुद्धपरिणाम का) कर्ता है; वह अन्य द्रव्य के परिणाम का कर्ता नहीं है।[१]

'अन्य द्रव्य से, अन्य द्रव्य के गुण की (पर्याय की) उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इसलिए (यह सिद्धान्त है कि) सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।[२]*'*

'सर्व द्रव्य, निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते परन्तु अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभाव से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में आता है — ऐसा होने से सर्व द्रव्यों को, निमित्तभूत अन्य द्रव्य, अपने (अर्थात्, सर्व द्रव्यों के) परिणाम के उत्पादक हैं ही नहीं।[३]*'*

'...तथा पर्याय में जीव-पुद्गल के परस्पर निमित्त से अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन सबको दो द्रव्यों के मिलाप से उत्पन्न हुई मानता है, परन्तु यह जीव की क्रिया है और पुद्गल इसमें निमित्त है तथा यह पुद्गल की क्रिया है और जीव उसमें निमित्त है — ऐसा भिन्न-भिन्न भाव (अज्ञानी को) भासित नहीं होता।[४]*'*

---

१. श्री समयसार, गाथा-१०० व भावार्थ
२. श्री समयसार, गाथा-३७२
३. श्री समयसार, गाथा-३७२ की टीका
४. श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२२५-२२६

तेषां शरीरयंत्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वा जडविवेकिनौ किं कुरुत इत्याह -

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः।
त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान प्राप्नोति परमं पदम्॥ १०४॥

तानि शरीरयंत्राणि साक्षाणि इंद्रियसहितानि आत्मनि समारोप्य गौरोऽहं सुलोचनोऽहं स्थूलोऽहमित्याद्यभेदरूपतया आत्मन्यध्यारोप्य जडो बहिरात्मा असुखं सुखं वा यथा भवत्येवमास्ते। विद्वानन्तरात्मा पुनः प्राप्नोति किं? तत्परमं पदं मोक्षं। किं कृत्वा? त्यक्त्वा? कं? आरोपं शरीरादीनामात्मन्यध्यवसायम्॥१०४॥

इसलिए जीव की क्रिया से शरीर के चलने की तथा खड़े रहने इत्यादि की क्रिया होना मानना, भ्रम है।

उन शरीर यन्त्रों का आत्मा में आरोप और अनारोप करके जड़ (अज्ञानी) और विवेकी पुरुष क्या करते हैं? — यह कहते हैं :—

मूढ़ अक्षमय आत्म गिन, भोगे दुःख सन्ताप।
सुधी तजे यह मान्यता, पावे शिवपद आप॥ १०४॥

अन्वयार्थ :- **(जड़)** मूर्ख / बहिरात्मा **(साक्षाणि)** इन्द्रियों सहित **(तानि)** उन औदारिकादि शरीरयन्त्रों को **(आत्मनि समारोप्य)** आत्मा में आरोपण करके 'मैं गोरा हूँ, मैं सुलोचन हूँ' इत्यादिरूप से उनकी आत्मत्व की कल्पना करके **(असुखं आस्ते)** दुःख भोगता रहता है, **(पुनः)** किन्तु **(विद्वान)** ज्ञानी/अन्तरात्मा **(आरोपं त्यक्त्वा)** शरीरादिक में आत्मा की कल्पना को छोड़कर **(परमं पदं)** परमपदरूप मोक्ष को **(प्राप्नोति)** प्राप्त कर लेता है।

टीका :- उन अक्षसहित शरीरयन्त्रों को आत्मा में आरोपित करके (शरीरयन्त्रों को आत्मा मानकर), अर्थात् 'मैं गोरा हूँ, सुन्दर आँखवाला हूँ, मैं मोटा (हूँ)' इत्यादि अभेदरूपपने (एकत्वबुद्धि से) आत्मा में आरोपित कर; जड़-बहिरात्मा, जैसे असुख-सुख हो, वैसे वर्तता है परन्तु विद्वान-अन्तरात्मा प्राप्त करता है। क्या? उस परमपद को-मोक्ष को। क्या करके? तजकर। क्या (तजकर)? शरीरादि का आत्मा में जो आरोप-अध्यवसाय है, उसका (तजकर) ॥१०४॥

भावार्थ :- *मैं गोरा, मैं सुन्दर, मैं मोटा — इत्यादिरूप शरीरादि में आत्मा की अभेद*

कथमसौ तं त्यजतीत्याह अथवा स्वकृतग्रन्थार्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्मुक्त्वेत्याह -

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,
संसार-दुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-
स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम्॥ १०५॥

कल्पना करके (आत्मबुद्धि करके), अज्ञानी बहिरात्मा, सुख-दुःख मानता है परन्तु ज्ञानी अन्तरात्मा, आत्मा में शरीरादि का मिथ्या-अभेद अध्यवसाय का त्याग करके, परमपद को -मोक्ष को प्राप्त करता है।

विशेष स्पष्टीकरण -

अनादि से शरीर और आत्मा के संयोग सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के कारण, शरीर के अङ्गोपाङ्ग की क्रिया देखकर, अज्ञानी को भ्रम होता है कि ये सब क्रियाएँ आत्मा की हैं परन्तु वास्तव में आत्मा और शरीर के लक्षण एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न है। एक चेतन और अरूपी है तथा दूसरा अचेतन-जड़ और रूपी है। दोनों के मध्य, मात्र निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है परन्तु अज्ञानी, भ्रम से निमित्त नैमित्तिकसम्बन्ध के बदले कर्ता-कर्मसम्बन्ध समझकर, अपने को सुखी-दुःखी मानता है।

ज्ञानी को शरीर और आत्मा का भेदज्ञान है, वह शरीर की क्रियाओं को आत्मा की क्रिया नहीं मानता; उसको शरीर में आत्मबुद्धि-एकताबुद्धि नहीं है; इसलिए उसको शरीर की क्रिया में कर्ताबुद्धि नहीं है। शरीरादि में कर्ताबुद्धि नहीं होने से, उसको हर्ष-शोक अथवा राग-द्वेष भी नहीं है; उनके अभाव में ज्ञानी को कर्म का नया बन्ध नहीं होता। भेदविज्ञान के बल से जैसे-जैसे वीतरागता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे पुराने कर्म भी उदय में आकर निर्जरित हो जाते हैं। अन्त में कर्मों का सम्पूर्णरूप से अभाव होने पर, परम वीतरागपद की प्राप्ति होती है।

वह उसे किस प्रकार तजता है? — वह कहते हैं अथवा अपने रचित ग्रन्थ का उपसंहार, फल दर्शाते हुए 'मुक्त्वा' — ऐसा कहकर कहते हैं :—

करे समाधितन्त्र का, आत्मनिष्ठ हो ध्यान।
अहंकार-ममकार तज, जगे शान्ति सुख ज्ञान॥ १०५॥

उपैति प्राप्नोति। किं तत्? सुखं कथम्भूतं? ज्योतिर्मयं ज्ञानात्मकं। किं विशिष्टः सन्नसौ तदुपैति? जननाद्विमुक्तः संसाराद्विशेषेण मुक्तः। ततो मुक्तोऽप्यसौ कथम्भूतं सम्भवति? परमात्मनिष्ठः परमात्मस्वरूपसंवेदकः किं कृत्वाऽसौ तन्निष्ठः स्यात्? मुक्त्वा। कां? परबुद्धिं अहं धियं च स्वात्मबुद्धिं च। क्व? परत्र शरीरादौ। कथम्भूतां ताम्? संसारदुःखजननीं चातुर्गतिकदुःखोत्पत्तिहेतुभूतां। यतस्तथाभूतां तां त्यजेत्। किं कृत्वा? अधिगम्य। किं तत्? समाधितंत्रं समाधेः परमात्मस्वरूप-संवेदनैकाग्रतायाः परमोदासीनतया वा तन्त्रं प्रतिपादकं शास्त्रं। कथम्भूतं तत्? तन्मार्ग तस्य ज्योतिर्मयसुखस्य मार्गमुपायमिति॥१०५॥

अन्वयार्थ :- **(तन्मार्ग)** उस परमपद की प्राप्ति का उपाय बतलानेवाले **(एतत् समाधितंत्रम्)** इस समाधितन्त्र नामक शास्त्र का **(अधिगम्य)** अध्ययन करके — अनुभव करके **(परात्मनिष्ठः)** परमात्मा की भावना में स्थिर चित्त हुआ अन्तरात्मा **(संसारदुःखजननीं)** चतुर्गतिरूप संसार के दुःखों को उत्पन्न करनेवाली, **(परत्र)** शरीरादिक परपदार्थों में **(अहं धियं परबुद्धिं च)** जो अहंबुद्धि तथा परबुद्धि को (पर, वह मैं हूँ - ऐसी बुद्धि को) **(मुक्त्वा)** छोड़कर, **(जननाद्विमुक्तः)** संसार से मुक्त होता हुआ, **(ज्योतिर्मयं)** ज्ञानात्मक सुख को **(उपैति)** प्राप्त कर लेता है।

टीका :- पाता है, अर्थात् प्राप्त करता है। वह क्या? सुख। कैसा (सुख)? ज्योतिर्मय, अर्थात् ज्ञानात्मक (सुख)। कैसे प्रकार का होकर वह उसे (सुख को) प्राप्त करता है? जन्म से मुक्त (अर्थात्), मुख्य करके संसार से मुक्त होकर (सुख प्राप्त करता है।) उससे (संसार से) मुक्त होने पर भी वह कैसे सम्भव है? (वह) परमात्मनिष्ठ-परमात्मस्वरूप का संवेदक (होता है)। क्या करके वह तन्निष्ठ (अर्थात्, परमात्मनिष्ठ) बनता है? छोड़कर। क्या (छोड़कर)? परबुद्धि और अहंबुद्धि, अर्थात्, स्वात्मबुद्धि (छोड़कर)। किसमें (छोड़कर)? पर में-शरीरादि में। कैसी उस (बुद्धि को)? संसार के दुःखों को उत्पन्न करनेवाली चतुर्गति के दुःखों की कारणभूत (बुद्धि को)। इसलिए उस प्रकार की उस बुद्धि का त्याग करना। क्या करके? जानकर। क्या (जानकर)? समाधितन्त्र को। समाधि का, अर्थात् परमात्मस्वरूप के संवेदन में एकाग्रता को अथवा परम उदासीनता के तन्त्र को, अर्थात् प्रतिपादक शास्त्र को। वह कैसा है? उसके मार्गरूप है। उसके, अर्थात् ज्योतर्मय सुख के मार्गरूप, अर्थात् उपायरूप (शास्त्र) है॥१०५॥

भावार्थ :- *श्री पूज्यपाद आचार्य विरचित यह 'समाधितन्त्र' शास्त्र, परमात्मस्वरूप के संवेदन में एकाग्रता जो समाधि है, अर्थात् परमपद की प्राप्ति का उपाय है-उसका प्रतिपादन करता है।*

इस 'समाधितन्त्र' का अच्छी तरह अभ्यास करके, जो अन्तरात्मा, शरीरादि पदार्थों में अहंबुद्धि और परबुद्धि का त्याग करता है और परमात्मा की भावना में चित्त स्थिर करता है, वह संसार के दुःखों से मुक्त होकर, केवलज्ञानमय परमसुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार आचार्यदेव ने प्रस्तुत 'समाधितन्त्र' की भव्यता दर्शाकर, परमपद की प्राप्ति का उपाय बताया है।

जब तक स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता, तब तक जीव, अज्ञानी रहता है और वह अज्ञानजनित भ्रम के कारण, शरीरादि परपदार्थों में अहंबुद्धि-आत्मबुद्धि करता है, अर्थात् उनमें अपने आत्मा की कल्पना करके, कर्ताबुद्धि का सेवन करता है। वह मानता है कि शरीर की क्रिया अथवा पर के कार्य मैं करता हूँ; तथा उसको शरीर और परपदार्थों के प्रति ममकारबुद्धि होती है, अर्थात् शरीर मेरा, स्त्री-पुत्र-मकानादि मेरे — ऐसी भ्रमजनित मान्यता वह करता है।

इस अज्ञानमूलक मान्यता के कारण, जीव को राग-द्वेषादि कषायभाव होते हैं, जो चतुर्गतिरूप संसारभ्रमण के मूलकारण हैं। स्वसन्मुख होकर आत्मस्वरूप में स्थिर होने की भावना करना ही संसार के दुःखों से मुक्ति का और परमपद की प्राप्ति का उपाय है।

टीका-प्रशस्तिः

येनात्मा बहिरन्तरुत्तमभिधा त्रेधा विवृत्योदितो,
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयाऽमलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपूज्यपादोऽमलो,
भव्यानन्दकरः समाधिशतकश्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः॥१॥

इति श्रीपण्डितप्रभाचन्द्रविरचिता समाधिशतकटीका समाप्ता।

जिन्होंने आत्मा को बहिर, अन्तर, और उत्तम — ऐसे तीन प्रकार से वर्णन कर बताया है, जिनने सद्ध्यान से अनन्त चतुष्टमय अमल शरीररूप मोक्ष है — ऐसा प्रसिद्ध किया है, वे पूज्यपाद प्रभु यहाँ जय पाओ। वे कैसे हैं? वे जिन हैं, उनके (इन्द्रिय) विषय सब अस्त हो गये हैं; वे अमल हैं; भव्यजीवों को आनन्दकर हैं; समाधिशतकरूप श्री से युक्त हैं, और प्रभा में चन्द्रसमान हैं।

इस श्लोक में समाधितन्त्र के (अपर नाम समाधिशतक के) रचयिता श्री पूज्यपादाचार्य के प्रति प्रशस्ति द्वारा पूज्यभाव प्रगट करके, उनके टीकाकार श्री प्रभाचन्द्र ने गर्भितरूप से 'श्रीमत् प्रभेन्दु' शब्दों द्वारा समाधिशतक के टीकाकार के रूप में अपने नाम का भी उल्लेख किया है।

इति श्री पण्डित प्रभाचन्द्र विरचित
समाधिशतक की टीका सम्पूर्ण।

समाधितंत्र पद्यानुक्रम सूची

अ

अचेतनमिदं दृश्य ४६
अज्ञापितं न जानन्ति ५८
अदु:खभावितं ज्ञानं १०२
अनन्तरज्ञः संधत्ते ९१
अपमानादयस्तस्य ३८
अपुण्यमव्रतैः पुण्यं ८३
अयत्नसाध्यं निवार्णं १००
अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं ३६
अविद्याभ्याससंस्कारैः ३७
अविद्यासंज्ञितस्तस्मात् १२
अव्रतानि परित्यज्य ८४
अव्रती व्रतमादाय ८६

आ

आत्मज्ञानात्परं कार्यं ५०
आत्मदेहान्तरज्ञान ३४
आत्मन्येवात्मधीरन्यां ७७
आत्मविभ्रमजं दुःख- ४१
आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा ७९

इ

इतीदं भावयेन्नित्य- ९९

उ

उत्पन्नपुरुषभ्रान्ते- २१
उपास्यात्मानमेवात्मा ९८

ए

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं १७

क

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्या- २५

ग

गौरः स्थूल:कृशो वाह- ७०
ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा ७३

घ

घने वस्त्र यथात्मानं ६३

च

चिरं सुषुप्तास्तमसि ७२

ज

जगद्देहात्मदृष्टीनां ४९
जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो ७२
जयन्ति यस्यावदतोऽपि २

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा ८८
जातिलिंगविकल्पेन ८९
जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं ४५
जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं ६४

त

तथैव भावयेद्देहाद् ८२
तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत् ५३
तान्यात्मनि समारोप्य १०४
त्यक्त्वैवं बहिरात्मान- २७
त्यागदाने बर्हिर्मूढः ४७

द

दृढ़ात्मबुद्धिर्देहादा- ७६
दृश्यमानमिदं मूढ़ ४४
दृष्टिभेदो यथा दृष्टिं ९२
देहान्तरगतेर्बीजं ७४
देहे स्वबुद्धिरात्मानं १३
देहे स्वात्मधिया जाताः १४

न

न जानंति शरीराणि ६१
न तदस्तीन्द्रियार्थेषु ५५
नयत्यात्मानामात्मैव ७५
नरदेहस्थमात्मन- ८
नष्टे वस्त्रे यथात्मानं ६५
नारकं नारकांगस्थं ९
निर्मलः केवलः शुद्धो ६

प

परत्राहं मतिः स्वस्मा ४३
पश्येन्निरन्तरं देह- ५७
पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य ८०
प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं ३२
प्रयत्नादात्मनो वायु- १०३
प्रविशद् गलतां व्यूहे ६९

ब

बहिरन्तः परश्चेति ४
बहिरात्मा शरीरादौ ५
बहिरात्मेन्द्रियद्वारैः ७
बहिस्तुष्यति मूढात्मा ६०

भ

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा ९७

म

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः १६
मामपश्यन्नयं लोको २६
मुक्तिरेकान्तिकी तस्य ७१
मुक्त्वा परत्र परबुद्धि- १०५
मूढात्मा यत्र विश्वस्त २९
मूलं संसारदुःखस्य १५

य

यत्त्यागाय निवर्तन्ते ९०
यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं १९
यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे ५१
यत्रानाहितधीः पुंसः ९६
यत्रैवाहितधी पुंसः ९५
यथासौ चेष्टते स्थाणौ २२
यदग्राह्यं न गृह्णाति २०
यदन्तर्जल्पसंपृक्त- ८५
यदभावे सुषुप्तोऽहं २४
यत्र काये मुनेः प्रेम ४०
यदा मोहात्प्रजायेते ३९
यद्बोधयितुमिच्छामि ५९
यन्मया दृश्यते रूपं १८
यस्य सस्पन्दमाभाति ६७
युंजीत मनसाऽऽत्मनं ४८
येनात्मनानुभूयेःह- २३
येनात्माऽबुध्यतात्मैव १
यो न वेत्ति परं देहा- ३३
यः परात्मा स एवाहं ३१

र

रक्ते वस्त्रे यथात्मानं ६६
रागद्वेषादिकल्लोलैः ३५

ल

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं ८७

व

विदिताशेषशास्त्रोऽपि ९४
व्यवंहारे सुषुप्तो यः ७८

श

शरीरकंचुकेनात्मा ६८
शरीरे वाचि चात्मानं ५४
शुभं शरीरं दिव्यांश्च ४२
श्रृणवन्नप्यन्यतः कामं ८१
श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति ३

स

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य ३०
सुखमारब्धयोगस्य ५२
सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव ९३
सोऽहमित्यात्तसंस्कार २८
स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा १०
स्पराध्यवसायेन ११
स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि १०१
स्वबुद्धया यावद्गृण्हीयात् ६२